

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182673

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—881—5-8-74—15,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 809 / N14A Accession No. H 3526

Author

नगेन्द्र

Title

शुद्धि न किं किं

This book should be returned on or before the date indicated below.

अनुसंधान और आलोचना

नगेन्द्र

एम० ए०, डी० लिट्०

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नई सड़क

:

दिल्ली

प्रथम संस्करण
दिसम्बर, १९६१

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफरिन पुल, दिल्ली

बापू—कविवर सियारामशरण गुप्त
को
स्नेह-भेंट

निवेदन

प्रस्तुत संकलन में मेरे आलोचक-मन के कई रूपों की अभिव्यक्ति मिलेगी ।

अनुसंधान और आलोचना के भेदाभेद का केवल सैद्धान्तिक विवेचन ही यहाँ नहीं हुआ है, दोनों का व्यावहारिक सम्बन्ध भी कुछ निबन्धों के स्वरूप से स्पष्ट हो जायेगा । 'रस शब्द का अर्थ-विकास' में जहाँ अनुसंधान का अनासक्त रूप मिलेगा, वहाँ 'कामायनी का महाकाव्यत्व' की स्थापनाओं में आसक्ति की संजीवनी प्रेरणा भी स्पष्ट है ।

दो-एक लेखों में सिद्धान्त-कथन है और कुछ में आलोचना के साथ ऐतिहासिक परिवेश भी जुड़ा हुआ है ।

'अनुसंधान और आलोचना' इस पुस्तक का नाम ही है, विशेषण नहीं । इसके दो व्यक्तिपरक निबन्ध न अनुसंधान हैं और न आलोचना—वे तो संस्मरण या ललित निबन्ध-मात्र हैं, यद्यपि उनके मूल में भी आलोचनात्मक दृष्टि का एकान्त अभाव नहीं है ।

इस प्रकार इन निबन्धों में पर्याप्त वस्तु-भेद है । फिर भी मूल दृष्टि के अभेद के कारण इनकी एकता कदाचित् खण्डित नहीं हुई ।

नवीन-जयन्ती ८-१२-६१

दिल्ली-विश्वविद्यालय

—नगेन्द्र

दिल्ली ।

क्रम

१. साहित्य का धर्म	...	१
२. कविता क्या है ?	...	४
३. 'रस' शब्द का अर्थ-विकास	...	११
४. भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता	...	२०
५. ऐतिहासिक के कवि-आचार्यों का योगदान	...	२८
६. रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव	...	३७
७. कामायनी का महाकाव्यत्व	...	४६
८. दीपशिखा की भूमिका	...	५८
९. स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी-साहित्य	...	६३
१०. स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना	...	७३
११. हिन्दी में शोध की कुछ समस्याएँ	...	८२
१२. अनुसंधान और आलोचना	...	८६
१३. वादा : स्व० पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	...	१०७
१४. रेडियो में पंतजी का आगमन	...	११७
१५. गिरिजाकुमार माथुर	...	१२३

साहित्य का धर्म

(इस देश में साहित्य और धर्म का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध रहा है) कि आधुनिक साहित्य-स्रष्टा और आलोचक को इन दोनों को पृथक् करने के लिए परिश्रम करना पड़ा। पाश्चात्य समीक्षकों ने जब यह कहकर भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह शुद्ध साहित्य की ऐहिक विभूतियों से हीन प्रायः धर्म का ही अंग है, तो भारत की प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना के लिए अपने साहित्य की धर्म-निरपेक्ष सत्ता की स्थापना अनिवार्य हो गई। परिवर्तन-काल में मूल्यों में कुछ ऐसी अस्थिरता आ गई कि साहित्य और धर्म में एक प्रकार से विरोध का आभास होने लगा। इस धारणा का अभी अंत नहीं हुआ है और इसका कारण यह है कि साहित्य और धर्म दोनों ही शब्दों के अर्थ अत्यंत अनिश्चित हैं। आज भी शब्दार्थ की यह नम्यता भ्रांति उत्पन्न कर सकती है, अतः साहित्य और धर्म शब्दों के अर्थ का निश्चय आज के इस परिसंवाद की पहली आवश्यकता है।

साहित्य—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत प्रसंग में दो शब्दों का प्रयोग होता है—(१) वाङ्मय और (२) साहित्य। पारिभाषिक दृष्टि से वाङ्मय का अर्थ अधिक व्यापक है; उसकी परिधि में वाणी का सम्पूर्ण आलेख आ जाता है। वाङ्मय के दो प्रमुख भेद हैं: इह वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यञ्च (राजशेखर)। आधुनिक शब्दावली में शास्त्र का अर्थ है ज्ञान का साहित्य और काव्य का अर्थ है रस का साहित्य। आज के परिसंवाद के अंतर्गत साहित्य का अभीष्ट अर्थ है रस का साहित्य (वस्तुतः संस्कृत में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'रस के साहित्य' के अर्थ में ही होता है—उसका वर्तमान व्यापक रूप और तज्जन्य अस्थिरता उसे अंगरेजी शब्द 'लिटरेचर' का पर्याय मान लेने का परिणाम है)। संस्कृत में इसका स्वरूप और प्रयोग सर्वथा परिनिष्ठित है: काव्य=साहित्य=रस का साहित्य (क्रिएटिव लिटरेचर—अंगरेजी)। साहित्य का शाब्दिक अर्थ है; सहित का भाव अर्थात् सहभाव। कुछ विद्वानों ने सहित का अर्थ हितसहित या कल्याणमय करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह वर्तमान वाग्विलास है;

काव्य-शास्त्र में उसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी आधुनिक विचारधारा के संदर्भ में उसका अर्थ-विस्तार किया है : “सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का मिलन नहीं है; परन्तु मुनष्य के साथ मनुष्य का—अतीत के साथ वर्तमान का—मिलन है।” किन्तु यह भी कवि के अपने वैदग्ध्य का चमत्कार है। शास्त्र में उसका एक ही निभ्रान्त अर्थ है—शब्द-अर्थ का सहभाव : शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या—(राजशेखर)। सहभाव का यहाँ विशिष्ट अर्थ है—पूर्ण सामंजस्य, ऐसा समभाव, जिसमें दोनों में से कोई न न्यून हो और न अतिरिक्त : यही साहित्य का तात्त्विक अर्थ है। अतः साहित्य से अभिप्रेत है वाङ्मय का वह रूप जिसमें शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य हो। यह एक ओर शास्त्र से भिन्न है क्योंकि उसमें अर्थ की गुरुता शब्द को भाराक्रांत कर देती है, और दूसरी ओर संगीत आदि से भी जिसमें शब्द की तरलता में अर्थ का क्षय हो जाता है।

दूसरा शब्द है धर्म। धर्म का व्युत्पत्त्यर्थ है—ध्रियते अनेन यः सः धर्मः, जो धारण करे वह धर्म है। वे मूल विशेषताएँ या गुण जो किसी पदार्थ के अस्तित्व को धारण करते हैं (एसेन्शल्स)—संक्षेप में प्राण-तत्त्व, मूल प्रवृत्ति, प्रकृति या स्वभाव। धर्म का एक दूसरा अर्थ भी है कर्तव्य-कर्म जो मूल अर्थ का ही विकास है क्योंकि प्रवृत्ति ही अनुशासित होकर कर्तव्य का रूप धारण कर लेती है। अतएव धर्म का समन्वित अर्थ होता है प्रकृति और कर्तव्य-कर्म।

इस प्रकार साहित्य के धर्म के अंतर्गत आज हमारा विवेच्य विषय है—आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में ‘ललित वाङ्मय की प्रकृति और उद्देश्य’ और संस्कृत काव्यशास्त्र की शब्दावली में ‘काव्य की आत्मा एवं प्रयोजन’।

जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया, शास्त्र की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य—अर्थ का शब्द के साथ पूर्ण तादात्म्य वाणी की चरम सिद्धि है। तत्त्व रूप में अर्थ आत्मा की अनुभवज्ञानमयी स्थिति का ही नाम है और शब्द का अर्थ है प्राकट्य; अतः अर्थ का शब्द-रूप में प्राकट्य आत्म-साक्षात्कार की ही एक प्रमुख प्रक्रिया है। भारतीय काव्य-दर्शन में इसी तर्क के आधार पर अर्थ को शम्भु और शब्द को शिवा या शक्ति कहा गया है—‘रुद्रोऽर्थः अक्षरस्सोमा’—और उन दोनों के अर्धनाशीश्वर-रूप में साहित्य की कल्पना की गयी है। आत्म-साक्षात्कार का ही नाम आनन्द है। प्रकृति के विविध उपादानों के द्वारा आत्मा अपना साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता

रहता है—यह प्रयत्न या साधना ही जीवन है, साधना की सफलता-विफलता ही जीवनगत सुख-दुःख और उसकी सिद्धि ही 'आनन्द' है जो सुख और दुःख से अतीत पूर्ण आत्म-लाभ या सामरस्य की स्थिति है। आनन्द का मूल रूप एक और अखण्ड है, माध्यम-भेद से उसके नामों में भेद हो जाता है। वाणी के माध्यम से जो आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है उसका शास्त्रीय नाम रस है। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ और शब्द का साहित्य सहज रसमय होता है—रस उसका अंतरंग लक्षण है, बहिरंग विशेषण मात्र नहीं है। एक शब्द में साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है रस और यही उसका प्रयोजन है। भारतीय काव्य-शास्त्र का विवेचन इतना मार्मिक और आप्त है कि उसमें लक्षण और प्रयोजन—साधन और सिद्धि—शरीर और आत्मा का भेद मिट जाता है।

[अमृतसर—संत विनोबा के तत्त्वावधान
में आयोजित साहित्य-गोष्ठी में दिया
गया वक्तव्य]

विद्यमान है। ध्वनिवादी जिसे पर्यायध्वनि, वक्रोक्तिवादी विशेषण-वक्रता और अलंकारवादी किसी लक्षणा-मूलक अलंकार का नाम दे सकते हैं।

अब नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से लीजिये। उद्धृत अर्घाली में अत्यन्त प्रसन्न पदावली का प्रयोग है जिसमें सूक्ष्म वर्णमैत्री के नाद-सौन्दर्य की कोमल अनुगूँज है—कवि ने पवर्ग और कवर्ग के वर्णों की आवृत्ति और दूसरे चरण में 'न' की आवृत्ति के द्वारा सहज वर्ण-सामंजस्य पर आश्रित शब्द-संगीत का सृजन किया है। उधर लघुमात्रिक चौपाई छन्द मुग्धा के मन की इस भाव-तरंग का अत्यन्त उपयुक्त माध्यम है।

(अब प्रश्न यह है कि इनमें से किस तत्त्व का नाम कविता है ? मूल भाव अर्थात् सौन्दर्य-चेतना का ? उक्ति-वक्रता अथवा अलंकार के चमत्कार का ? अथवा वर्णमैत्री का ? या फिर छन्द-संगीत का ? उत्तर भी कठिन नहीं है। मूल भाव कविता नहीं है—यहां संयोग से यह भाव सौन्दर्यानुभूति है, सामान्यतः कुछ भी हो सकता है। किन्तु भाव कविता नहीं है जीवन में सब मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी भाव की अनुभूति करते हैं, पर वह कविता तो नहीं कही जा सकती। न जाने कितने स्त्री-पुरुष, और तिर्यक् योनि में भी न जाने कितने नर-मादा, एक-दूसरे के यौवन-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होते हैं; किन्तु इस आकर्षण को कविता तो नहीं कहा जा सकता।

तो क्या उक्ति-वक्रता कविता है ? अर्थात्, क्या सौन्दर्य के इस अनुभव को विदग्ध रीति से शब्दबद्ध करना कविता है ? नहीं; क्योंकि अपने नित्यप्रति के व्यवहार में हम अपने आशय को न जाने कितनी बार अनेक वचन-भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त करते रहते हैं। वह तो कविता नहीं है। क्या अलंकार का चमत्कार—'नयन' और 'वाणी' का लाक्षणिक प्रयोग, अथवा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सूक्ष्म विरोधाभास कविता है ? यहां कतिपय काव्य-रसिक तर्क-वितर्क कर सकते हैं। किन्तु मेरा स्पष्ट मत है—'नहीं'। क्योंकि बोलचाल में निरन्तर हम न जाने मुहावरों के रूप में कितने लाक्षणिक प्रयोग करते रहते हैं। विरोधाभास का चमत्कार भी सभा-चतुर व्यक्तियों के लिए साधारण चमत्कार है। यह सब तो कविता नहीं है। इसी प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष के कल्पना-त्मक समर्थन को भी कविता कैसे कहा जाय ! नवीन आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में उक्ति-वक्रता, लाक्षणिक प्रयोग, अलंकार-चमत्कार आदि में कल्पना का वैभव है। अतएव सारतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार केवल भाव कविता नहीं है, उसी प्रकार केवल कल्पना भी कविता नहीं है।

अब रह जाता है संगीत-तत्त्व—वर्ण-संगीत और लय-संगीत। वह भी

निश्चय ही कविता नहीं है, क्योंकि वर्ण-संगीत और लय-संगीत दोनों ही निरर्थक पदावली में भी सम्भव हैं।

(तो फिर वास्तव में कविता क्या है ? इन सभी तत्त्वों का समन्वय कविता है। यह समस्त अर्थाली ही कविता है। सौन्दर्य-चेतना कविता नहीं है, उक्ति-वक्रता कविता नहीं है, अर्थान्तरन्यास अलंकार कविता नहीं है, वर्ण-संगीत कविता नहीं है, चौपाई की लय कविता नहीं है। इन सबका समंजित रूप ही कविता है—अर्थात् रमणीय भाव, उक्ति-वैचित्र्य और वर्ण-लय-संगीत तीनों ही मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं। अब फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता के लिए इन तीनों की स्थिति अनिवार्य है ? क्या इनमें से किसी एक का अभाव कविता के अस्तित्व में बाधक होगा ? उदाहरण के लिए, क्या बिना रमणीय भाव-तत्त्व के कविता नहीं हो सकती ? इसका उत्तर देने से पूर्व रमणीय शब्द का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है। —रमणीय का अर्थ केवल मधुर नहीं है—कोई भी भाव, जिसमें हमारे मन को रमाने की शक्ति, हो, रमणीय है। इसी दृष्टि से क्रोध, ग्लानि, शोक आदि भावों के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं, काव्य में होते ही हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि एक तो केवल प्रेम, श्रद्धा, विस्मय आदि सुखद भाव ही रमणीय नहीं हैं; शोक, ग्लानि, अमर्ष आदि अप्रिय भाव भी रमणीय हो सकते हैं। दूसरे, भावों के सभी रूप रमणीय नहीं होते; शृंगार जैसे मधुरतम भाव के भी अनेक रूप सर्वथा अरमणीय और अकाव्योचित हो सकते हैं, होते हैं। जीवन की इन अनुभूतियों के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके, जिनमें सहृदय की अन्तर्वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति हो। भाव की रमणीयता इसी का नाम है।) तो क्या इस रमणीय भाव-तत्त्व के अभाव में कविता नहीं हो सकती ? मेरा स्पष्ट उत्तर है—नहीं; इसके अभाव में जो चमत्कार आपको मिल सकता है वह बौद्धिक चमत्कार ही हो सकता है, जैसे पहेली के समाधान आदि में मिलता है। तथाकथित चित्रकाव्य में इसीकी उपलब्धि होती है। बौद्धिक चमत्कार कविता का धर्म नहीं है, अतः जिस उक्ति से केवल बौद्धिक चमत्कार प्राप्त होता है वह कविता नहीं। अब दूसरा तत्त्व लीजिए—उक्ति-वैचित्र्य। क्या उक्ति-वैचित्र्य के बिना कविता हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मतभेद है। आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ आचार्य का दृढ़ मत है कि हाँ, हो सकती है। प्राचीन रसवादी आचार्यों का इस विषय में यही मत था—कदाचित् शुक्ल जी की यही धारणा है। परन्तु मुझे संदेह है : आनन्दवर्धन आदि रसध्वनिवादी तो ध्वनि के साथ कल्पना की

विद्यमान है। ध्वनिवादी जिसे पर्यायध्वनि, वक्रोक्तिवादी विशेषण-वक्रता और अलंकारवादी किसी लक्षणामूलक अलंकार का नाम दे सकते हैं।

अब नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से लीजिये। उद्धृत अर्घाली में अत्यन्त प्रसन्न पदावली का प्रयोग है जिसमें सूक्ष्म वर्णमैत्री के नाद-सौन्दर्य की कोमल अनुगूँज है—कवि ने पवर्ग और कवर्ग के वर्णों की आवृत्ति और दूसरे चरण में 'न' की आवृत्ति के द्वारा सहज वर्ण-सामंजस्य पर आश्रित शब्द-संगीत का सृजन किया है। उधर लघुमात्रिक चौपाई छन्द मुग्धा के मन की इस भाव-तरंग का अत्यन्त उपयुक्त माध्यम है।

(अब प्रश्न यह है कि इनमें से किस तत्त्व का नाम कविता है ? मूल भाव अर्थात् सौन्दर्य-चेतना का ? उक्ति-वक्रता अथवा अलंकार के चमत्कार का ? अथवा वर्णमैत्री का ? या फिर छन्द-संगीत का ? उत्तर भी कठिन नहीं है। मूल भाव कविता नहीं है—यहाँ संयोग से यह भाव सौन्दर्यानुभूति है, सामान्यतः कुछ भी हो सकता है। किन्तु भाव कविता नहीं है जीवन में सब मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी भाव की अनुभूति करते हैं, पर वह कविता तो नहीं कही जा सकती। न जाने कितने स्त्री-पुरुष, और तिर्यक् योनि में भी न जाने कितने नर-मादा, एक-दूसरे के यौवन-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होते हैं; किन्तु इस आकर्षण को कविता तो नहीं कहा जा सकता।

तो क्या उक्ति-वक्रता कविता है ? अर्थात्, क्या सौन्दर्य के इस अनुभव को विदग्ध रीति से शब्दबद्ध करना कविता है ? नहीं; क्योंकि अपने नित्यप्रति के व्यवहार में हम अपने आशय को न जाने कितनी बार अनेक वचन-भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त करते रहते हैं। वह तो कविता नहीं है। क्या अलंकार का चमत्कार—'नयन' और 'वाणी' का लाक्षणिक प्रयोग, अथवा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सूक्ष्म विरोधाभास कविता है ? यहाँ कतिपय काव्य-रसिक तर्क-वितर्क कर सकते हैं। किन्तु मेरा स्पष्ट मत है—'नहीं'। क्योंकि बोलचाल में निरन्तर हम न जाने मुहावरों के रूप में कितने लाक्षणिक प्रयोग करते रहते हैं। विरोधाभास का चमत्कार भी सभा-चतुर व्यक्तियों के लिए साधारण चमत्कार है। यह सब तो कविता नहीं है। इसी प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष के कल्पनात्मक समर्थन को भी कविता कैसे कहा जाय ! नवीन आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में उक्ति-वक्रता, लाक्षणिक प्रयोग, अलंकार-चमत्कार आदि में कल्पना का वैभव है। अतएव सारतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार केवल भाव कविता नहीं है, उसी प्रकार केवल कल्पना भी कविता नहीं है।

अब रह जाता है संगीत-तत्त्व—वर्ण-संगीत और लय-संगीत। वह भी

निश्चय ही कविता नहीं है, क्योंकि वर्ण-संगीत और लय-संगीत दोनों ही निरर्थक पदावली में भी सम्भव हैं ।

(तो फिर वास्तव में कविता क्या है ? इन सभी तत्त्वों का समन्वय कविता है । यह समस्त अर्थाली ही कविता है । सौन्दर्य-चेतना कविता नहीं है, उक्ति-वक्रता कविता नहीं है, अर्थान्तरन्यास अलंकार कविता नहीं है, वर्ण-संगीत कविता नहीं है, चौपाई की लय कविता नहीं है । इन सबका समंजित रूप ही कविता है—अर्थात् रमणीय भाव, उक्ति-वैचित्र्य और वर्ण-लय-संगीत तीनों ही मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं । अब फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता के लिए इन तीनों की स्थिति अनिवार्य है ? क्या इनमें से किसी एक का अभाव कविता के अस्तित्व में बाधक होगा ? उदाहरण के लिए, क्या बिना रमणीय भाव-तत्त्व के कविता नहीं हो सकती ? इसका उत्तर देने से पूर्व रमणीय शब्द का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है । —रमणीय का अर्थ केवल मधुर नहीं है—कोई भी भाव, जिसमें हमारे मन को रमाने की शक्ति हो, रमणीय है । इसी दृष्टि से क्रोध, ग्लानि, शोक आदि भावों के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं, काव्य में होते ही हैं । मैं यह कहना चाहता हूँ कि एक तो केवल प्रेम, श्रद्धा, विस्मय आदि सुखद भाव ही रमणीय नहीं हैं; शोक, ग्लानि, अमर्ष आदि अप्रिय भाव भी रमणीय हो सकते हैं । दूसरे, भावों के सभी रूप रमणीय नहीं होते; शृंगार जैसे मधुरतम भाव के भी अनेक रूप सर्वथा अरमणीय और अकाव्योचित हो सकते हैं, होते हैं । जीवन की इन अनुभूतियों के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके, जिनमें सहृदय की अन्तर्वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति हो । भाव की रमणीयता इसी का नाम है ।) तो क्या इस रमणीय भाव-तत्त्व के अभाव में कविता नहीं हो सकती ? मेरा स्पष्ट उत्तर है—नहीं; इसके अभाव में जो चमत्कार आपको मिल सकता है वह बौद्धिक चमत्कार ही हो सकता है, जैसे पहेली के समाधान आदि में मिलता है । तथाकथित चित्रकाव्य में इसीकी उपलब्धि होती है । बौद्धिक चमत्कार कविता का धर्म नहीं है, अतः जिस उक्ति से केवल बौद्धिक चमत्कार प्राप्त होता है वह कविता नहीं । अब दूसरा तत्त्व लीजिए—उक्ति-वैचित्र्य । क्या उक्ति-वैचित्र्य के बिना कविता हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मतभेद है । आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ आचार्य का दृढ़ मत है कि हाँ, हो सकती है । प्राचीन रसवादी आचार्यों का इस विषय में यही मत था—कदाचित् शुक्ल जी की यही धारणा है । परन्तु मुझे संदेह है : आनन्दवर्धन आदि रसध्वनिवादी तो ध्वनि के साथ कल्पना की

अनिवार्यता मानकर काव्योक्ति में वैचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि कल्पना के योग का नाम ही तो वैचित्र्य है। शुक्ल जी ने भी अनेक प्रसंगों में इस भाव-प्रेरित वक्रता का यशोगान किया है; किन्तु अपने पूर्ववर्ती काव्य के अतिशयचमत्कारवाद से क्षुब्ध होकर सिद्धान्त-रूप में वे उसका निषेध कर देते हैं। मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा में स्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि इसमें एक अतिवाद के विरुद्ध दूसरे अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयंसिद्ध तर्क का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यतः उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वैचित्र्य है; इसलिए व्यापक अर्थ में उक्ति-वैचित्र्य का अभाव कविता में संभव नहीं है। प्रकारान्तर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति-वैचित्र्य के अभाव में कविता नहीं हो सकती। तीसरा तत्त्व है संगीत। इसके विषय में तो मतभेद और भी अधिक हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र का निम्नान्त मत है कि छन्द कविता का वैकल्पिक उपकरण है। उधर हिन्दी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छन्द के अभाव में कविता तो क्या, साहित्य के किसी रूप की कल्पना सम्भव नहीं थी। यूरोप में इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दल बन गए थे—एक ओर अरस्तू और कालरिज जैसे आलोचक छन्द को वैकल्पिक मानते थे, दूसरी ओर ड्राइडन आदि के मत से छन्द का संगीत कविता का अनिवार्य माध्यम था। मेरा मत भी छन्द के 'इस पुराने ग्राम्य विशेषण' को कविता का अनिवार्य तत्त्व मानने के ही पक्ष में है। छन्द कविता का सहज वाहन है। प्रत्येक साहित्य-रूप की अपनी-अपनी सहज विधा है : नाटक के लिए संवाद, कथा-साहित्य के लिए वर्णनात्मक गद्य, आलोचना के लिए विवेचनात्मक गद्य, निबन्ध के लिए ललित गद्य और कविता के लिए छन्द। नाटक के रंग-संकेतों में वर्णनात्मक गद्य का प्रयोग होता है, उपन्यास में संवाद का, आलोचना में ललित गद्य का और निबन्ध में विश्लेषात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता में लययुक्त गद्य-संगीत का कुछ कवियों ने सफल प्रयोग किया है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है; यहाँ एक विधा के तत्त्व दूसरी की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं, जैसे वास्तुकला में मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्रायः होता आया है। वास्तव में समस्त कला तथा साहित्य-रूपों का मूल तत्त्व तो एक ही है, रूप-विधाएँ भिन्न हैं, अतः उनके बाह्य उपकरण बहुधा एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। नाटक में आख्यान-तत्त्व का, उपन्यास में नाट्य-तत्त्व का, आलोचना में लालित्य का समावेश हो जाता है; परन्तु फिर भी उनके वैशिष्ट्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार गद्य-साहित्य के अनेक रूप रस के प्राचुर्य

से काव्यात्मक हो सकते हैं, और कविता में भी नाट्य-तत्त्व का समावेश हो सकता है, कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यवत् भी ; किन्तु वह उसका सहज या शुद्ध रूप नहीं है । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि की भाँति कविता भी रस के साहित्य की एक विशिष्ट विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस; किन्तु माध्यम के आधार पर इनमें परस्पर भेद है जो इनके वैशिष्ट्य की रक्षा करता है । कविता नाम की साहित्य-विधा का माध्यम है छंद । संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य—रस के साहित्य का पर्याय है जिसके अन्तर्गत नाटक-उपन्यास आदि का समावेश है । आज काव्य और कविता में भेद हो गया है : काव्य समस्त रस-साहित्य या पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में सर्जनात्मक साहित्य का पर्याय है; कविता उसका पर्याय नहीं है—एक रूप है, जो छन्द के माध्यम के कारण अन्य रूपों से भिन्न है ।

सारांश यह है कि पूर्वोक्त तीनों तत्त्व—रमणीय अनुभूति, उक्ति-वैचित्र्य और छन्द अर्थात् वर्ण-संगीत और लय-संगीत—कविता के लिए अनिवार्य हैं । इनमें से किसी एक का नाम कविता नहीं है, इन तीनों का समंजित रूप ही कविता है । पहले दो तत्त्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अनिवार्य अंग हैं । तीसरा तत्त्व अर्थात् छन्द ही कविता को काव्य के अन्य रूपों से पृथक् करता है । इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है । यहाँ एक और शंका का भी समाधान कर लेना अनुपयुक्त न होगा । वह यह कि क्या रस के साहित्य के अन्य रूपों और कविता में केवल रूप-विधा अथवा माध्यम का ही अन्तर है; और स्पष्ट शब्दों में—क्या उपन्यास और प्रबन्ध-काव्य में केवल यही अन्तर है कि एक अनियत-लय गद्य में लिखा हुआ है और दूसरा नियतलय छन्द में ? क्या दोनों के भाव-तत्त्व अथवा मूल संवेद्य में कोई अन्तर नहीं है ? अनेक आलोचकों के मत से दोनों में मूल संवेद्य का अन्तर भी है । उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबन्ध-काव्य का आस्वाद भिन्न होता है । इस धारणा में केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पड़ता है । उदाहरण के लिए, जंगल में वृन्त पर खिले हुए गुलाब और किसी नागरिक के सुसज्जित कमरे में गुलदस्ते में सजे हुए गुलाब की सौंदर्यानुभूति में थोड़ा अन्तर निश्चय ही पड़ जाता है । इसी प्रकार यह निर्विवाद है कि रसात्मक तत्त्व के अतिशय के कारण ही कविता स्वभावतया छन्द के माध्यम से स्फुरित होती है और छन्द का संगीत उसके रसात्मक तत्त्व को और भी समृद्ध कर देता है । इस दृष्टि

से आस्वाद अथवा मूल संवेद्य में भी थोड़े से अन्तर की कल्पना असंगत नहीं है; किन्तु यह अन्तर मात्रा का अन्तर है, प्रकार या प्रकृति का अन्तर नहीं। इसलिए मैं अपनी उस स्थापना को फिर यथावत् दोहराता हूँ कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है।

अन्त में, एक मौलिक समस्या का समाधान कर इस प्रसंग को समाप्त कर दूंगा। काव्य-शास्त्र में मनोविज्ञान के वर्धमान प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नवीन आलोचकों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि कविता एक अनुभूति अथवा अनुभूतियों का वर्ग है। उदाहरण के लिए इस युग के सर्वश्रेष्ठ अंग्रेज आलोचक रिचर्ड्स का कथन है कि कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है। तुलसीदास की पूर्वोक्त अर्धाली को ही आधार मानकर चलें तो यह कहा जा सकता है कि इन आलोचकों के मत से 'स्याम गौर किमि कहहुँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कविता नहीं है, वरन् इससे प्राप्त सहृदय की अनुभूति ही कविता है। बात निश्चय ही बहुत गहरी है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उससे उलझन ही पैदा होती है। इसीलिए कदाचित् अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक आधार ग्रहण करने पर भी भारतीय आचार्य इस प्रपंच में नहीं पड़ा; उसकी व्यवहार-बुद्धि ने सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट शब्दों में रस कहा है और इस अनुभूति को उत्पन्न करनेवाले शब्दार्थ को कविता। तत्त्व-दृष्टि से कदाचित् रिचर्ड्स का मत ही ठीक हो; किन्तु व्यवहार-दृष्टि से—समझने-समझाने की दृष्टि से—हमारे आचार्यों की स्थापना ही ग्राह्य है : 'शब्दार्थो काव्यम्'। इस प्रकार मैं घूम-फिर कर फिर वहीं पहुँच जाता हूँ : रसात्मक शब्दार्थ ही काव्य है और उसकी छन्दोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थ में कविता है।

‘रस’ शब्द का अर्थ-विकास

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूल आधार है काव्यशास्त्र । यद्यपि दर्शन में भी, विशेषकर आनन्दवादी आगम-ग्रन्थों में, आत्म-तत्त्व के व्याख्यान के अंतर्गत सौन्दर्य की अनुभूति के विषय में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, फिर भी सौन्दर्य के आस्वाद और स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन काव्य-शास्त्र में ही मिलता है । आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्य-चेतना एक मिश्र वृत्ति है—इसके योजक तत्त्व हैं (१) प्रीति अर्थात् आनन्द और (२) विस्मय । भारतीय काव्य-शास्त्र इस रहस्य से आरम्भ से ही अवगत था : उसके दो प्रतिनिधि-सिद्धान्त—रस और अलंकार—क्रमशः प्रीति और विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं । सौन्दर्य के आस्वाद में प्रीति-तत्त्व का प्राधान्य रस-सिद्धान्त में प्रस्फुटित और विकसित हुआ और उधर विस्मय-तत्त्व की प्रमुखता ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण किया । इन दोनों में रस-सिद्धान्त केवल कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं, वरन् प्रभाव और प्रसार की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र की आधार-शिला यही है ।

‘रस’ भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है । सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता है : (१) पदार्थों का रस अर्थात् सौहित्य का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि ; (२) आयुर्वेद का रस; (३) साहित्य का रस; और इसीसे मिलता-जुलता (४) मोक्ष या भक्ति का रस । सौहित्य के रस में रस का अर्थ है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोड़कर निकाले हुए द्रव का, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का स्वाद होता है । इस प्रकार सौहित्य के प्रसंग में रस का प्रयोग पदार्थ-सार और आस्वाद दोनों अर्थों में होता है । पदार्थ (या सार-भूत द्रव) भी रस है और उसका आस्वाद भी रस है । आगे चलकर ये दोनों अर्थ स्वतंत्र रूप में विकसित हो गए । आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद; यह अर्थ सौहित्य के रस का ही विकास है । यहाँ पदार्थ-सार तो

से आस्वाद अ किन्तु उसके साथ उसके आस्वाद का नहीं, वरन् गुण (शक्ति) किन्तु यह था जाता है। साहित्य का रस जहाँ आस्वाद-प्रधान है, वहाँ मैं अपनी रस शक्ति-प्रधान है। आयुर्वेद में रस का एक और अर्थ है, देह-की उत्पत्ति शरीर में अंतर्भूत ग्रंथियों का रस जिस पर शरीर का विकास रहता है। यहाँ भी शक्ति का ही प्राधान्य है। तीसरा प्रयोग है साहित्य का रस, जहाँ रस का अर्थ है (अ) काव्य-सौन्दर्य और (आ) काव्यास्वाद—अर्थात् काव्यानन्द भी। मोक्ष-रस या आत्म-रस ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द का वाचक है; भक्ति-रस का अर्थ भी, सिद्धान्त-भेद होने पर भी, मूलतः यही है।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों में आस्वाद का अंतर्भाव तो स्पष्ट है, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम ज्ञानेन्द्रिय रसना हो या सूक्ष्मेन्द्रिय मन हो, मस्तिष्क हो या आत्मा; द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्त्व का भाव भी प्रायः किसी न किसी रूप में सर्वत्र मिलता है। रस शब्द का पहला अर्थ—अर्थात् पदार्थों का सारभूत द्रव—वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है। वनस्पतियों के रसों का वैदिक युग में प्रचुर प्रयोग होता था। मानव-सभ्यता के उस प्रभात-युग में यह स्वाभाविक ही था; उदाहरणतया—

‘महे यत्पित्र ईं रसं दिवे करवत्सरत्’ (ऋ० १; ७१, ५)

(अर्थात् जिस समय यजमान महान् और पालक देवता को हव्य-रूप में रस देता है)।

इसके अतिरिक्त दूध और जल के अर्थ में भी रस का प्रयोग है : ‘यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनुनाम् ।’

(ऋ० ७; १०४, १०)

(हे अग्नि ! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है और जो अश्वों, गायों और संतानों का सार नष्ट करने की इच्छा करता है।)

किन्तु, इन सबकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग। ‘ऋग्वेद’ में सोमरस का अत्यन्त उच्छ्वसित वाणी में स्तवन किया गया है—

‘तं गोभिर्वृषाणं रसं मदाय देववीतये । सुतं भराय सं सृज ।’

(ऋ० ६; ६, ६)

(देवों को मत्त करने के लिए उस अभियुक्त और अभीष्ट वर्षक सोमरस में गव्य मिलाओ।)

‘सोमो अर्बन्ति धर्मांसिर्दधान इन्द्रियं रसम् । सुवीरो अभिशस्तिपाः ।’

(ऋ० ६; २३, ५)

(संसार को धारण करने वाले सोम इन्द्रिय-पोषक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं।)

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रव-रूप वनस्पति-सार ही था। यह द्रव निश्चय ही आस्वाद-विशिष्ट होता था—अतएव ‘आस्वाद’ रूप में भी रस का अर्थ-विकास स्वतः ही हो गया, यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है। सोम नामक ओषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेष प्रिय था, अतः सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया। सोमरस का आस्वाद अपूर्व था, उसमें ऐसे गुण थे जिनसे शरीर और मन में स्फूर्ति, शक्ति तथा मद का संचार होता था और उसके पान से एक विचित्र आल्लाद की प्राप्ति होती थी। अतः सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ-परिधि में क्रमशः शक्ति, मद और अंत में आल्लाद का समावेश हो गया। आल्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया। वह जीवन के आल्लाद से आत्मा के आल्लाद में परिणत हो गया और वैदिक युग में ही आत्मानन्द का वाचक बन गया। ‘अथर्ववेद’ में उपर्युक्त अर्थ-विकास के स्पष्ट प्रमाण मिल जाते हैं—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कृतश्च नोनः ।

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(अथर्ववेद १०; ५, ४४)

(अकाम, धीर, अमृत स्वयंभू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है। वह किसी विषय में भी न्यून नहीं है; उस धीर अजर सदा-तहण आत्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।)

इसके उपरान्त उपनिषद्-काल का आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद्-काल को वेदान्त-काल अथवा वैदिक काल का अन्तिम चरण भी कहा जाता है। वेद में जहाँ अन्तर्जगत और बहिर्जगत, आत्म-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व तथा अनुभूति और तर्क दोनों का महत्त्व है, वहाँ उपनिषद् की प्रवृत्ति एकांत अन्तर्मुखी है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि रस के अर्थ में भी इस युग में आकर सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश हो गया। उपनिषद् में रस का प्रयोग द्रव्य के अर्थ में तो इतना नहीं है; हाँ, द्रव्य की पोषक शक्ति और आस्वाद—द्रव्य से प्राप्त ऊर्जा और आल्लाद के अर्थ में अनेक सन्दर्भों में मिलता है—

‘ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाव्रतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।’

(तैत्तिरीय उपनिषद् २, १ क)

(ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष, अर्थात् शरीर उत्पन्न

हुआ । यह शरीर अन्न-रसमय है अर्थात् अन्न के रस से बना है) ।

यहाँ रस का अर्थ केवल द्रव्य नहीं है वरन् द्रव्य-जन्य देह-धातु और शक्ति आदि का है । अर्थात् यहाँ सौहित्य के रस की अपेक्षा आयुर्वेद के रस (देह-धातु) की विवक्षा अधिक है । द्रव्य और द्रव्य-जन्य ऊर्जा आदि से सूक्ष्मतर प्रयोग है तन्मात्रा के अर्थ में । यह प्रयोग भी वैदिक ही है । उपनिषद् में इसका स्पष्ट व्यवहार है—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाश्च मैथुनान्

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् । (कठ, २; १, ३)

(रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन का ज्ञान (या अनुभव), उसी आत्मा के कारण होता है । यदि वह न रहे, तो (फिर) क्या कुछ बच रहता है !)

बाह्य दृष्टि से रसनेन्द्रिय के विषय का नाम रस है, और तत्त्व-दृष्टि से यह रस तन्मात्रा है । यहीं से यह शब्द, गुण, द्रव्य आदि का नाम धारण कर, सांख्य, वैशेषिक आदि दर्शनों में गया, जहाँ इसका सूक्ष्म, गहन विश्लेषण किया गया । आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति में ही तन्मात्राओं की स्थिति रहती है ; शांत आत्मा इन सबसे मुक्त हो जाता है—

‘अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।’

(कठ १; ३, १५) ।

किन्तु भौतिक अर्थ में हा वह परम तत्त्व अरस है, पारमार्थिक अर्थ में वह सर्वरस है—‘मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्म सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः..... ।’ (छान्दोग्य ३; १४; २)

(वह ब्रह्मज्योति मनोमय है, प्राणशरीर है, प्रकाशरूप है, सत्यसंकल्प है, आकाश उसका आत्मा है । वह सर्व-कर्म-समर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्ध और सर्वरस है.....) ।

रस के अर्थ-विकास के प्रसंग में उपर्युक्त दोनों (अथवा इस प्रकार के अन्य भी उद्धरणों का विशिष्ट महत्त्व है...यहाँ रस के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की सीमाएँ परस्पर मिल जाती हैं; अथवा यह कहा जा सकता है कि रस भौतिक अर्थ की सीमा पार कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा में प्रवेश करता है । वह परम तत्त्व अरस भी है और सर्वरस भी है—‘अरस’ में रस का भौतिक अर्थ अभीष्ट है और ‘सर्वरस’ में आध्यात्मिक, क्योंकि भौतिक अर्थ में ही वह रस से विहीन और आध्यात्मिक अर्थ में ही रसमय हो सकता है । लक्षणा की शक्ति से इस प्रकार का अर्थान्तर-संक्रमण सहज ही सिद्ध हो जाता है । रस का

यह आध्यात्मिक अर्थ उपनिषद् के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य में और भी स्पष्ट हो जाता है : ‘रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।’ (तैत्तिरीय उपनिषद् २, ७) (वह रस-रूप है, इसीलिए रस को पाकर, जहाँ कहीं रस मिलता है उसे प्राप्त कर, मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है ।)

रस शब्द के अर्थ-विकास का क्रम यहाँ आकर एक मंजिल पूरी कर लेता है । उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस के किसी सर्वथा नवीन अर्थ की उद्भावना नहीं हुई, एक ही अर्थ क्रमशः सूक्ष्मतर होता चला गया है । रस का मूल अर्थ था अन्न का रस—वनस्पतियों का रस, अर्थात् ‘द्रव्य’ रूप रस । ‘द्रव्य’ से फिर वह द्रव्य के ‘आस्वाद’ का वाचक बना, और फिर विशिष्ट आस्वादयुक्त सोम रस का । सोम रस में आस्वाद के अतिरिक्त अन्य गुणों का भी वैशिष्ट्य था—ऊर्जा, स्फूर्ति, मस्ती आदि । अतः रस की परिधि में विकास-क्रम से आस्वाद के अतिरिक्त ऊर्जा और तन्मयता आदि गुणों का भी समावेश हो गया । सामान्य अन्न-रस जहाँ आस्वाद-विशिष्ट ही होते थे, वहाँ सोमरस में आस्वाद के साथ एक विशेष प्रकार की तन्मयता और आह्लाद भी था—अर्थात् सोमरस के आस्वाद में प्रकारान्तर से मानसिक तत्त्व का भी विशेष रूप में समावेश हो गया था । विचार के क्षेत्र में आस्वाद ही रस तन्मात्रा और अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मरस या ब्रह्मरस के रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार रस का अर्थ अन्नरस या पदार्थरस से ब्रह्मरस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में ही पूरी कर लेता है ।

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः ।

शृंगारादौ द्रवे बीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥ (इति विश्वः)

रस के उपर्युक्त अर्थों में से ‘शृंगारादौ’ अर्थात् ‘काव्य-रस’ को छोड़ प्रायः अन्य सभी प्रमुख अर्थों की उद्भावना इस युग में हो चुकी थी (‘प्रायः’ में पारद आदि परवर्ती अर्थ-विवृत्तियों का अन्तर्भाव हो सकता है—वैसे ‘पारद’ के रूप में भी रस का प्रयोग ‘देहधातु’ आदि का ही अर्थ-विकास है) । काव्यरस के शास्त्रीय अर्थ में रस का स्पष्ट प्रयोग वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता । डा० शंकरन्तु का यही मत है (देखिए—दी श्योरीज ऑफ़ रस एंड ध्वनि; सम एस्पेक्ट्स ऑफ़ सं० अलं०, पृ० ५) और हम भी छानबीन के बाद अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं । परन्तु ‘ऋग्वेद’ की ही अनेक ऋचाओं से यह संकेत मिलता है कि अलक्ष्य रूप से लक्षणा ऋषियों की चिरवन्दिता शक्ति ‘वाक्’ के लिए भी रस का अर्थ-प्रसार करने लगी थी : वाणी के लिए ‘पीना’ क्रिया और ‘स्वादु’, ‘मधु’ आदि विशेषणों का प्रयोग इसका असंदिग्ध प्रमाण है ।

स्वयं डा० शंकरन् द्वारा उद्धृत 'ऋग्वेद' के कतिपय वाक्य हमारे मन्तव्य को पुष्ट करते हैं—

पिबत्वस्य गिरंणः (ऋ० ८; १, २६)

(हे गीत-रसिक देव ! तू इस (गीत के रस) का पान कर)

'वचः स्वावो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्'.....' (ऋ० १; ११४, ६)

(रुद्र को प्रसन्न करने के लिए स्वादु से भी स्वादु वचन (गीत).....।)

'मध्व ऊधु मधुयुवा रुद्रा सिषक्ति पिथुषो'.....'(ऋ० ५; ७३, ८)

(मधु-प्रेमी रुद्रगण ! मधुवर्षिणी वह (वाक्) तुम्हारे लिए प्रस्तुत है...)

'वाचो मधु पृथिवि ! देहि मह्यम् ।' (ऋ० १२; १, १६)

(हे पृथिवी ! मुझे वाणी का मधु प्रदान कर ।)

'वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्तुशः' (पूर्वार्द्ध—ऋ० १०, २४, ६ ।

(यहाँ वाणी के लिए न केवल 'मधुमती' वरन् 'मधु' के समान दीखने वाली' विशेषणों का प्रयोग किया गया है) ।

वाणी के चमत्कार से वैदिक ऋषि पूर्णतः परिचित था—उसकी विभूतियों का उसने अनेक स्थलों पर भाव-विभोर होकर उद्गीथ किया है । 'ऋग्वेद' के उपर्युक्त उद्धरणों में प्रयुक्त 'पीना' क्रिया और स्वादु तथा मधुर विशेषणों से यह स्पष्ट है कि इस चमत्कार की 'मधुर पेय रस' के रूप में भी वैदिक ऋषि कल्पना करते थे और सोमरस के प्रति अबाध आकर्षण होने के नाते यह बिम्ब कदाचित् उन्हें प्रिय भी था । मेरी अपनी धारणा है कि वाणी के चमत्कार के लिए पहले 'आस्वाद' शब्द और फिर आस्वाद्य 'रस' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के बीज कदाचित् यहीं मिल जाते हैं—ऋषि वाणी का पान करते थे और वे वाणी की मधुर एवं स्वादु रूप में भी कल्पना करते थे; अर्थात् वाणी उनके लिए मधुर पेय अथवा 'रस' रूप में काम्य थी ।

डा० शंकरन् के ही ग्रंथ में उद्धृत 'ऋग्वेद' का वाक्य हमारे अनुमान का पुष्टि कर देता है :

यः पावमानीरध्येत्यूषिभिः संभृतं रसम् ।

सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥

.....तस्यै सरस्वती बुहे क्षीरं । (ऋ० ६; ६७, ३१-३२)

(जो पवमान ऋचाओं के रूप में ऋषियों द्वारा सम्भृत रस का अध्ययन करता है, वह पवित्र और स्वादिष्ट अन्न का आनन्द लेता है...उसके लिए सरस्वती क्षीर आदि का दोहन करती है) ।

यहाँ रस का प्रयोग निश्चय ही ऋचाओं के अर्थात् वाणी के रस के लिए

किया गया है। इस प्रकार वैदिक युग में ही रस शब्द का प्रयोग वाणी के शब्दार्थ के लिए होने लगा था। किन्तु यह भी व्यावहारिक प्रयोग-मात्र था, शास्त्रीय नहीं।

इसके बाद रामायण-महाभारत-काल आता है। यों तो ‘वाल्मीकि-रामायण’ के प्रचलित संस्करणों में बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में नवरस का अस्थित स्पष्ट उल्लेख है,

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणंस्त्रिभिरन्वितम् ।

जातिभिः सप्तभिर्बद्धम्, तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥८॥

रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ।

वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥९॥

परन्तु बालकाण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है; किसी भी प्रामाणिक संस्करण में ये श्लोक नहीं मिलते। ब्लूमफील्ड और मोनियर विलियम्स के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ‘रामायण’ और ‘महाभारत’ में रस शब्द के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। ‘रामायण’ में रस का प्रयोग जीवन-रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों में ही हुआ है। ‘महाभारत’ में भी वह जल, सुरा, पेय, गंध आदि का ही पर्याय है। केवल दो-एक प्रयोग थोड़े नवीन हैं; जैसे, काम और स्नेह के अर्थ में। महाभारत-काल के पश्चात् (भरत के ‘नाट्यशास्त्र’ की रचना तक) सूत्रकाल आता है। यह मूल दर्शन-सूत्रों की रचना तथा बौद्ध एवं जैन-दर्शनों के प्रथम आविर्भाव का युग है। इसी युग में वैयाकरण पाणिनि और उनके प्राचीन भाष्यकार हुए; कौटिल्य का ‘अर्थशास्त्र’ तथा वात्स्यायन का ‘कामसूत्र’ लिखा गया। इनमें से अधिकांश ग्रन्थों में रस शब्द का विशेष अर्थ-विकास नहीं हुआ। दर्शन-सूत्रों में तन्मात्रा के अर्थ में और अर्थशास्त्र आदि में द्रव्यादि के रूप में ही उसका प्रयोग होता रहा।

शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव

हमारे अनुसंधान में सहायक एक ग्रन्थ है, ‘कामसूत्र’। वात्स्यायन के नाम से प्रचलित ‘कामसूत्र’ का जो प्रसिद्ध संस्करण ‘जयमंगला’ टीका के साथ इस समय मिलता है उसमें ‘रस’ शब्द का प्रयोग रति, काम-शक्ति आदि के अर्थ में प्रायः हुआ है—

‘रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः।’

(कामसूत्र २, १, ६५)

‘शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः ।’ (का० २, २, ३२)

एक स्थान पर शास्त्रीय अर्थ में भी रस का स्पष्ट प्रयोग है—

‘तदिष्टभावलीलानुवर्तनम् ।’ (६, २, ३५)

इस पर ‘जयमंगला’ टीका है : नायकस्य शृंगारादिषु य इष्टो रसो भावः स्थायिसंचारिसात्त्विकेषु, लीलाचेष्टितानि तेषामनुवर्तनम् ।’ (अर्थात् यहाँ रस और भाव से अभिप्राय शृंगारादि रस और स्थायी-संचारी आदि भावों का है ।)

उपर्युक्त सूत्र विशेष की रचना कितनी प्राचीन है और यह वात्स्यायन-कृत मूल सूत्रों में से है या नहीं, यह कहना कठिन है । किन्तु वात्स्यायन के ही युग में, या उसके आसपास, ‘रस’ शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हो गया होगा, ऐसा अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं । अधिकांश विद्वानों का आज यही मत है कि वात्स्यायन के ‘कामसूत्र’ की रचना कदाचित् ईसा-पूर्व चौथी शती के लगभग हुई थी । यह युग सूत्रकाल कहलाता है और इसका विस्तार ५-६ शती ई०-पू० से ५-६ शती ई० तक माना जाता है । इस कालावधि में ही सूत्र-शैली का पूर्ण प्रसार हुआ । ‘कामसूत्र’ की रचना इसके पूर्वार्द्ध में और ‘भरत-सूत्र’ की कदाचित् उत्तरार्ध में हुई । एक तो भरत-सूत्रों में ही प्रतिपादित रस-सिद्धान्त बहुत सांगोपांग और परिपूर्ण है ; दूसरे, स्वयं भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख तथा अनुवंश श्लोकों में उनके मन्तव्यों का प्रयोग इतने प्रचुर रूप में किया है कि रस की शास्त्रीय परम्परा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले ले जाना अनिवार्य हो जाता है । इस प्रकार ‘रस’ शब्द के शास्त्रीय अर्थ के आविर्भाव का समय ‘कामसूत्र’ की रचना के आसपास ही पहुँच जाता है । इन दो शताब्दियों में शास्त्रीय अर्थ का इतना विकास हो चुका था कि भरत को, या भरत नाम से रचना करने वाले सूत्रकार को, उसका पूर्ण विस्तार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई ।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के फलस्वरूप हमारे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) ‘रस’ का मूल प्रयोग निश्चय ही वनस्पतियों के द्रव के लिए होता था, जिनके अपने-अपने आस्वाद और गुण थे ।

(२) ‘द्रव्य के लिए गुण और गुण के लिए द्रव्य-वाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग’ के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा ‘आस्वाद’ और ‘ऊर्जा’ आदि के अर्थ में उसका विकास हो गया ।

(३) सोम रस के वर्धमान प्रचार ने ‘रस’ शब्द के अर्थ में आनन्द, मस्ती और तन्मयता—‘चमत्कार’ आदि का समावेश कर दिया । प्रत्येक ‘रस’ या उसका ‘आस्वाद’ आनन्दप्रद नहीं होता, किन्तु सोमरस के प्रभाव से ‘रस’ आनन्द और तन्मयता—चमत्कार आदि का वाचक बन गया ।

(४) लक्षणा का व्यापार इसके बाद भी चलता रहा और रस का प्रयोग एक ओर वाणी के चमत्कार (ऋचाओं के रस आदि) के लिए होने लगा, और दूसरी ओर—

(५) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के लिए होने लगा ।

(६) ‘वाणी का रस’ ‘काव्य-रस’ का ही समानार्थक है । यों तो वेद में कवि और काव्य शब्दों का भी प्रयोग है, पर वह वर्तमान पारिभाषिक प्रयोग से थोड़ा दूर है ; काव्य की अपेक्षा वाक् वर्तमान अर्थ के अधिक निकट है । अतः वाक्-रस को काव्य-रस का वाचक मानना सर्वथा युक्तिसंगत है ।

(७) किन्तु उपर्युक्त प्रयोग सर्वथा व्यावहारिक ही है, रस का पारिभाषिक या शास्त्रीय प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं है ।

(८) अतः रस के शास्त्रीय अर्थ का विकास रामायण-महाभारत-काल के पश्चात् के नाट्य-सूत्रों से बहुत पहले—‘कामसूत्र’ के प्रभाव के फलस्वरूप, अनुमानतः चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से लेकर दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक हुआ होगा ।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बँगला और असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तूरु आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संवयन किया जाये तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार भाण्डार—हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं ! किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है ! इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है किन्तु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रान्ति सम्भव है ! दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है : सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वरूप के विषय में शंका हो सकती है ! यही बात बँगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बँगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संगम-साहित्य, तेलुगु के द्वयर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के सन्देश-काव्य एवं कीर-गीत (किलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बँगला का मंगल-काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की गज़ल और हिन्दी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसन्धान भी सहज-सम्भव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलुगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग' जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश में नरेश नृपतुंग (८१४-८७७ ई०); और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है रामचरितम् जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रन्थ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहुबलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बँगला के चर्या-गीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी; असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रह्लादचरित' तथा 'हरगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी 'तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं।' उधर चौदहवीं शती में तो उड़ासा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं

जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता ।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं । प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है । पूर्वमध्य-काल की समाप्ति मुगल-वैभव के अन्त अर्थात् १७वीं शती के मध्य में तथा उत्तर-मध्यकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है । इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है; सभी प्रायः सम-कालीन चार चरणों में विभक्त हैं ।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है, और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम । बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है । मुगल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा । मुगलों की सत्ता खण्डित हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं । मुगल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे । राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट् तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे । शासक भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी । इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी । बाद में अंग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया । इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है ।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है । पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था । बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था । योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति

एवं सिद्धान्त-प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी सन्त-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी-मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। सन्त-सम्प्रदाय वेदान्त दर्शन से प्रभावित थे और निगुण-भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफी सन्तों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी सन्त हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आन्दोलन का आरम्भ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश-भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुञ्जरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरन्तर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व—जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाये और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है ! विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक

कुण्डाओं और स्वप्नों को शब्द-रूप देने के नये प्रयोग और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूप-रेखा है, जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिये। भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्त समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ—नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपभोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है।—इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है; किन्तु काव्यशैलियों और काव्यरूपों की समानता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियाँ—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश-परम्परा की भी अनेक शैलियाँ, जैसे चरितकाव्य, प्रेमगाथा-शैली, रास, पद-शैली आदि प्रायः समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द—दोहा, चौपाई, आदि—भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छन्द हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छन्दों का—जैसे प्रगीत-काव्य और उसके अनेक भेदों, सम्बोध-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी का और मुक्त-छन्द, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और

अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएँ अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरंतर संस्कृत के भाण्डार का उपयोग करती रही हैं और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंग्रेजी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अंग्रेजी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है। पिछले ५० वर्ष से भारत की सभी भाषाएँ उसकी नवीन प्रयोग-भंगिमाओं, मुहावरों, उपचार-वक्रताओं को सचेष्ट ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंग्रेजी का प्रभाव और भी अधिक है; हमारी वाक्य-रचना प्रायः अंग्रेजी पर ही आश्रित है। अतः इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आंतरिक समानता मिलती है जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।' देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यन्त निस्संग भाव से, सत्य-शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए; वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए, मधुरा भक्ति का अध्ययन यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बँगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा। उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धाराओं में भी अवगाहन करना होगा। गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएँगे। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएँ सांयोगिक सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में वैसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बँगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-काव्य में घटने

वाली आकस्मिक या ऐकान्तिक घटना नहीं थी; गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में, पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में, असमिया कवि माधवदेव ने अपने बड़गीतों में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझा कर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियाँ विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्यों का अध्ययन किये बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफी काव्य के मर्म को समझने में फारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी और उर्दू—में विद्यमान तत्सम्बन्धी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरित-मानस में राम के स्वरूप की प्रकल्पना को हृद्गत किये बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था। वहाँ के कृष्ण-काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंतःसाहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जाएँगी, अगणित जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जायेगा और उधर भारतीय चिन्ताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी और संस्कृत तक ही सीमित है, प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाये। पर यह बाधा अजेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषावर्ग तो ऐसे हैं जिनमें अल्प अभ्यास से काम चल सकता है। उनमें तो रूपान्तर, यहाँ तक कि लिप्यन्तर भी, आवश्यक नहीं है। जैसे बँगला, असमिया और उड़िया में, या हिन्दी और मराठी में, या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में लिप्यन्तर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है। यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान,

अंतःसाहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय संस्थाएँ इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरम्भिक अवस्था में ही है। इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने-आप में शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरन्तर अपनी अखण्डता में उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

रीतिकाल के कवि-आचार्यों का योगदान

१. काव्य-शास्त्र

रीति-आचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। इनका पहला दोष है सिद्धांत-प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियाँ हैं : एक के अंतर्गत नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना और दूसरी के अंतर्गत प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान आता है। हिन्दी के रीति-आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके। किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन, जो काव्य-चिंतन को नवीन दिशा प्रदान करता, सम्पूर्ण रीतिकाल में सम्भव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं-कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया है, परन्तु उन तथाकथित उद्भावनाओं का भी आधार-स्रोत किसी न किसी संस्कृत-ग्रंथ में मिल जाता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय संस्कृत-ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता ; अर्थात् वहाँ नवीनता-प्रदर्शन केवल नवीनता या विस्तार-मोह के कारण किया गया है, काव्य के मर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कहीं-कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएँ अकाव्योचित भी हो गई हैं। जैसे खर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिका-भेदों का विस्तार, अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का प्रस्तार। वास्तव में हिन्दी के रीतिकवियों ने आरम्भ से ही गलत रास्ता अपनाया : उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परन्तु संस्कृत के काव्य-शास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद-विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था, उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए, संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि-कर्म के बाह्य रूप का जितना

पूर्ण विवेचन है उतना उसके आंतरिक रूप का नहीं है ; अर्थात् कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन यहाँ व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता । हिन्दी का रीति-आचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था । यहाँ मौलिक विवेचन के लिए बड़ा अवकाश था, परन्तु परम्परा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका । सामान्यतः उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था । दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का ; रीतिकाल तक संस्कृत काव्य-शास्त्र का भेद-विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गई थी । उदाहरण के लिए, ध्वनि का भेद-विस्तार हजारों तक, नायिका-भेद की संख्या भी सैकड़ों तक पहुँच चुकी थी । अलंकार वर्णन-शैली को छोड़ वर्ण्य विषय के क्षेत्र में प्रवेश करने लग गए थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे । परिणामतः भारतीय काव्य-शास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकी थी, अस्तव्यस्त-सी हो गई थी । पंडितराज जगन्नाथ जैसे मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया ; किन्तु उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अतः शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि-शिक्षा उसके अधिक अनुकूल पड़ती थी । हिन्दी का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया; अपने समसामयिक पंडितराज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशवमिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा । हमारे कवि-आचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था और वह था : हिन्दी की विशाल काव्य-राशि का अनुगम विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतंत्र विधान की कल्पना करना । किन्तु उसने हिन्दी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी । लक्षणाओं के लिए उसने संस्कृत काव्य-शास्त्र का अवलम्ब लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया ; इस प्रकार हिन्दी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा । वास्तव में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणाओं का अनुवाद और नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्तव्य-कर्म का निषेध करना था । आलोचना-शास्त्र मूलतः एक सापेक्षिक शास्त्र है ; उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध है । अतः न तो केवल हजारों वर्ष पुराने लक्षणाओं और उदाहरणों का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि सम्भव थी । संस्कृत के आचार्यों ने जहाँ प्रायः आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक् रखा था, वहाँ हिन्दी के आचार्य-कवियों ने दोनों को मिला दिया । इससे काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई, किन्तु काव्य-

शास्त्र का विकास न हो सका ।

रीति-आचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रन्थों पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है । इस अभाव के दो कारण थे : एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने-आप में निर्भ्रान्त नहीं था ; दूसरे पद्य में साहित्य के सूक्ष्म-गंभीर प्रश्नों का समाधान सम्भव नहीं था । प्रतापसिंह जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किये हैं; मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण मत काव्यलक्षण—

रसयुत व्यंग्य-प्रधान जहँ, शब्द अर्थ शुचि होइ ।

उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावै सोइ ॥

काव्य-प्रकाश रसगंगाधर मत काव्यलक्षण—

अलंकार अरु गुन सहित, दोष रहित पुनि कृत्य ।

उक्त रीति मुद के सहित रसयुत वचन प्रवृत्य ॥

—[काव्यविलास (हस्तलेख, पृ० १)]

वास्तव में इस प्रकार का अज्ञात अक्षम्य है; परन्तु इन कवियों की अपनी परिसीमाएँ थीं ।

उपर्युक्त दोषों के लिए अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं । एक तो संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा ही रीतिकाल तक आते-आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी । उस समय पण्डितराज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिन्तन का प्रमाण नहीं दे सका । उस युग में कवि-शिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था—जिसके लिए न मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन अपेक्षित था, न खण्डन-मण्डन अथवा पुनराख्यान । कवि-शिक्षा का लक्ष्य था रसिकों को सामान्य काव्य-रीति की शिक्षा देना, जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिए कवि-कर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं । रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था । इन रसिक श्रीमन्तों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए केवल सामान्य कला-ज्ञान अपेक्षित था, गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें शक्ति थी और न धैर्य ही । अतः उनके आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करते रहे ; सूक्ष्म शास्त्र-चिन्तन न उनके लिए ग्राह्य था और न इनके लिए आवश्यक । इसके अतिरिक्त हिन्दी में गद्य का अभाव भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी ; तर्क और विचार-विश्लेषण का

माध्यम गद्य ही हो सकता है, छन्द के बन्धन में बँधा हुआ पद्य नहीं। हिन्दी के सर्वांग-निरूपक आचार्यों ने, जो अपने शास्त्र-कर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है; किन्तु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मन्तव्य को सुलझाने की अपेक्षा अधिक उलझाने में ही सफल हुआ है।

अतः रीति-आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुतः शास्त्रकार नहीं थे रीतिकार थे और उसी रूप में इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं :

१. उद्भावक आचार्य जिन्हें मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है : जैसे भरत, वामन, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुंतक आदि। ये शास्त्रकार की कोटि में आते हैं।
२. व्याख्याता आचार्य जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य-कर्म होता है मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा-भेद से इसी वर्ग के अन्तर्गत आएँगे।
३. तीसरा वर्ग है कवि-शिक्षकों का जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस-सुबोध-पाठ्य-ग्रन्थ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खण्डन-मण्डन द्वारा सुलझाने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पयदीक्षित, केशवमिश्र और भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अंतर्गत की जाती है।

हिन्दी के रीति-आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य-सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांग-निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी; किन्तु खण्डन-मण्डन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में, केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अन्ततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार, उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिन्दी में अवतरित करना था और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव हिन्दी के रीति-आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिन्दी-काव्य को शास्त्र-चिंतन की प्रौढ़ि प्राप्त हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए। भारतीय भाषाओं में हिन्दी को छोड़ अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परन्तु वर्तमान हिन्दी-आलोचना पर इसका सद्प्रभाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओं में जहाँ संस्कृत-आलोचना से वर्तमान आलोचना का सम्बन्ध उच्छिन्न हो गया है, वहाँ हिन्दी और मराठी में यह अंतःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रास के उस अन्धकार-युग में काव्य के बुद्धि-पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत अंग-रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा-भक्ति से संप्रेरित शृंगार-भाव में जीवन के समस्त कटुभावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राणतत्त्व आनन्द की पुनः प्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीति-युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिकाभेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव जैसे कवियों ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में रसकुटिल, अधम व्यंजना पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रससिद्धान्त के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। 'संयोग', 'शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान' 'युग की दूषित प्रवृत्ति' आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय्य नहीं है, इनके पीछे गहरी आस्था का बल था।

२. काव्य

भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भाँति हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यन्त अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरम्भ से ही इस

पर आलोचकों की वक्र दृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्य-बोध के प्रति हीन-भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाज-विरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषय-वस्तु एवं अभिव्यंजना-प्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया।

इस प्रकार की आलोचनाएँ निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं—इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धान्त का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति का अवलम्बन करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जायेगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं : एक 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा है'। इनमें से पहली शुक्लजी की शब्दावली में 'आनन्द की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्व देती है। केवल भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, विश्व भर के वाङ्मय में काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस भेद के मूल में आंतरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और उनका आख्यान करनेवाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। मेरी अपनी धारणा है कि किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टि-भेद को सामने रख लेना आवश्यक है—एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी न किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य-दृष्टि में, पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शैले की काव्य-दृष्टि में उपर्युक्त भेद स्पष्ट है : फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ़ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है—बिहारी की आलोचना करते हुए पंडित पर्सासिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चाँद को भी गहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि मैं स्वयं कवित्व और रस की मौलिक अखण्डता का समर्थक हूँ—किन्तु यह अखण्डता तो अंतिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीति काल का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ या ‘रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्’ की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है—जीवन के मार्ग पर धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही किन्तु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छाँह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम से कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्चेष नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव-मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इसमें संदेह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। यहाँ मैं इस प्रश्न को छोड़ना नहीं चाहता कि रस की कोटियाँ होती हैं या नहीं—मेरा मन्तव्य केवल यही है कि काव्य-वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है और इस दृष्टि से रीति-काव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें संदेह नहीं है और इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। वास्तव में मैं इस प्रसंग में एक ऐसे सत्य का फिर से उद्घाटन करना चाहता हूँ जो अनेक नैतिक-सामाजिक काव्य-सिद्धान्तों के घटाटोप में आज छिप गया है और वह यह है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है : यह मनोरंजन मानव-जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असंदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए—उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल्य नहीं है क्योंकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय-समाज की रुचि-परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्त्व असंदिग्ध है। वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीति-कवियों ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीति-कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीति-कवियों की उपलब्धि कम नहीं है। ब्रजभाषा के काव्यरूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कांति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी—शब्दों को जैसे खराद पर उतार कर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया। सवैया और कवित्त की रेशमी जमीन पर रंग-बिरंगे शब्द मारिणक-मोती की तरह दुलकने लगे। इन दोनों छन्दों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीति-कवियों का छन्द-विधान एक बँधी लीक पर ही चलता है : उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिए अवकाश नहीं है। परन्तु यह दृष्टि-दोष है : सवैया और कवित्त के विधान के अंतर्गत अनेक प्रकारके सूक्ष्म लय-परिवर्तन कर रीति-कवियों ने अपनी कोमल संगीत-रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व युग के तुलसी और गंग जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द जैसे प्रवीण कलाकारों के छन्द-विधान के साथ तुलना करने पर अंतर स्वतः स्पष्ट हो जाता है—ये कवि अपने सम्पूर्ण काव्य-वैभव के होते हुए भी रीति कवियों के छंद-संगीत की सृष्टि करने में नितांत असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है—वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा कि पंत में मिलता है, परन्तु विलास-युग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने आप में विशेष मूल्यवान् है—और इसी रूप में इसके महत्त्व का आकलन होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाव्य में आपको सूर, मीरा और घनानन्द की जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का सूक्ष्म सौंदर्य-बोध ही यहाँ उपलब्ध होगा, परन्तु मुक्त परम्परा की गोष्ठीमण्डन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य

में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही सम्भव हो सका ।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है । सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवर्तित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कलारूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक-परम्परा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कला-प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार-प्रसाधन द्वारा रीतिकवियों ने हिन्दी काव्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है । एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा अपना उदाहरण आप ही है : किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया ।

रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव

रवीन्द्र-जयन्ती का आयोजन जिस उल्लास और उत्साह के साथ, जिस व्यापक रूप में पूरे राजकीय वैभव के साथ हो रहा है वह हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। एक ओर हमारे लिए जहाँ यह गौरव का विषय है कि एक कवि-कलाकार को इस प्रकार का राजकीय एवं देशव्यापी सम्मान दिया जा रहा है, दूसरी ओर हमें इस प्रकार के राजनीतिक आयोजनों के असाहित्यिक प्रभावों के प्रति भी सतर्क होने की आवश्यकता है। इस प्रकार के राजनीतिक कोलाहल से कई अनिष्ट हो सकते हैं : एक तो यह कि स्वयं रवीन्द्र-साहित्य के भव्यतर रूप की उपेक्षा हो जाये और 'वे विश्वमानव थे', 'अन्तर्राष्ट्रीय पुरुष थे', 'महानु शिक्षाविद् थे', 'सिद्ध दार्शनिक थे', 'अद्वितीय जन-सेवक थे'—ऐसे या इस प्रकार के अन्य नारों के बीच उनका कलाकार ही खो जाये; और दूसरा यह कि राजनीतिक रंग में रंगे हुए इस प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप रवीन्द्र-साहित्य का इतना अधिक अतिमूल्यन किया जाये कि देश की अन्य साहित्यिक विभूतियाँ रवीन्द्रनाथ की उपजीवी या उपग्रह बनकर रह जायें। एक वाक्य में इस प्रकार के अतिरंजित प्रयत्नों से साहित्य के क्षेत्र में भी राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। अतः भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का मूल्यांकन, राजनीतिक प्रचार-भावना से मुक्त होकर, उचित साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए और यह समझकर आगे बढ़ना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने बीसवीं शती के प्रथम चरण में जिस आलोक का वितरण किया वह उन्हें प्राचीन भारत की महान् परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ—वह आलोक भारत के अन्य साहित्यकारों को भी प्राप्त था जिन्हें स्वदेश-विदेश की काव्य-परम्परा के साथ रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का अतिरिक्त वरदान भी मिला।

अंग्रेजी आलोचना में कुछ कवियों के लिए एक प्रशस्ति का प्रयोग किया जाता है—पोइट्स पोइट : कवियों का कवि। इसका संस्कृत पर्याय बनता है

‘कवीनां कविः’ किन्तु संस्कृत आलोचना में इस अर्थ में ‘कविकुलगुरुः’ का प्रयोग हुआ है, ‘कवीनां कविः’ का नहीं। ‘कविकुलगुरु’ या ‘कवियों के कवि’ पद की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो वह कवि जो परवर्ती कवि-परम्परा को काव्य-वस्तु प्रदान करता है या काव्य-वस्तु के नव-निर्माण की प्रेरणा देता है, दूसरा वह कवि जो काव्य-सामग्री—विशेषतः काव्य-बिम्ब प्रदान करता है अथवा काव्य-बिम्बों के नव-निर्माण की प्रेरणा देता है। वाल्मीकि और व्यास पहली कोटि के कवि हैं, कालिदास दूसरी के। किन्तु जहाँ तक मुझे स्मरण है संस्कृत काव्य-परम्परा ने कालिदास को ही कविकुलगुरु की उपाधि से भूषित किया है—भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः—स्वयं कालिदास को काव्य-वस्तु का दान करनेवाले वाल्मीकि और व्यास का अक्षय यशोगान करने पर भी उन्हें ‘कवीनां कविः’ का पर्याय-वाचक ‘कविकुलगुरु’ विशेषण नहीं दिया। इसका अभिप्राय यह है कि ‘कविकुलगुरु’ या ‘कवीनां कविः’ का प्रयोग प्रायः दूसरे अर्थ में अर्थात् काव्य-सामग्री या काव्य-बिम्ब प्रदान करनेवाले ऐसे कवि के लिए ही किया गया है जो अतिशय भाव-वैभव और कल्पना-विलास से मण्डित हो—जिसके प्रचुर भण्डार से अन्य कवि अपने काव्य-कोष को परिपूर्ण करते हों। इस अर्थ में भारतीय साहित्य में कालिदास के उपरांत ‘कवीनां कविः’ विशेषण के अधिकारी केवल रवीन्द्रनाथ ही हैं—यद्यपि देश की अनेक भाषाओं में ऐसे अनेक महाकवि हुए हैं जिन्हें रवीन्द्रनाथ के समप्रतिभ मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

रवीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे। जीवन के जिस सत्य का उनके कवि ने कल्पना और अनुभूति के द्वारा साक्षात्कार किया उसी को वे अनेक माध्यम-प्रकारों से व्यक्त करते रहे। विश्व के विकीर्ण वैभव में आत्मा के स्पंदन को भाव-प्रेरित कल्पना और फिर कल्पना-समृद्ध अनुभूति से प्राप्त कर उन्होंने अनेकता में एकता के जिस सत्य को स्वानुभूत किया वही दर्शन के क्षेत्र में सर्वात्मवाद, संस्कृति के धरातल पर विश्व-मानवतावाद और राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रवाद का रूप धारण कर उनके सम्पूर्ण वाङ्मय में पुष्पित-पल्लवित होता रहा। इस प्रकार की अनुभूति स्पष्टतः एक प्रकार की रहस्यानुभूति है, जो एक ओर विचार और विवेक की बौद्धिक सीमाओं को और दूसरी ओर ऐन्द्रिय जगत के भौतिक बन्धनों को पारकर चेतना के अतल गह्वर में जन्म लेती है—आप उसे आत्मा या चित कहें या केवल चेतना मात्र। रवीन्द्रनाथ की काव्यानुभूति का यही मूल धरातल था। इसलिए उनकी काव्यानुभूति मूलतः रहस्यानुभूति है और उनकी काव्य-शैली का निर्माण स्वभावतः रम्याद्भुत तत्त्वों से हुआ है। भारतीय साहित्य पर उनके प्रभाव

का आरम्भ गीतांजलि की पुरस्कृति के पश्चात् ही माना जा सकता है। भारतीय काव्य-प्रतिभा की वह सार्वभौम स्वीकृति अपने देश के साहित्यिक इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी जिसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

हिन्दी साहित्य में इस समय जागरण-सुधार के नैतिक आदर्शों से मुखरित द्विवेदी-युग चल रहा था जिसकी दृष्टि सर्वथा बहिर्मुखी थी और जिसकी अभिव्यक्ति का रूप इतिवृत्तात्मक था। रीति-काव्य की परिचित रस-भूमि को अनैतिक और रोग-ग्रस्त मानकर हिन्दी का कवि त्याग चुका था। किन्तु उसके स्थान पर नवीन रस-भूमि का अनुसन्धान वह कर नहीं पाया था। अन्तर्मुख जीवन के दुष्परिणामों से पीड़ित भारतीय चेतना जीवन और जगत के मंगलमय प्रसार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रही थी। सामाजिक जीवन के कल्याण की ओर उन्मुख अनेक आन्दोलन साहित्य में भी प्रतिध्वनित हो रहे थे किन्तु ऐसा लगता था जैसे कि वे विवेक के स्तर से ही टकरा कर लौट आते हों। बँगला-साहित्य में भी बहुत-कुछ ऐसी ही परिस्थिति थी जिसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना ने विद्रोह किया था। हिन्दी कविता में 'गीतांजलि' की प्रसिद्धि के आसपास ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया होने लगी थी। प्रसाद की आरंभिक रचनाओं में सामयिक काव्यादर्शों से कुंठित कवि-चेतना की यह व्यग्रता व्यक्त हो रही थी। भावना और विवेक का यह संघर्ष चेतना के विकास का चिरंतन सत्य है, न वह आकस्मिक घटना है और न किसी व्यक्ति-विशेष की सृष्टि। भारतीय चेतना स्थूल और सूक्ष्म, बहिरंग और अन्तरंग की क्रिया-प्रतिक्रिया में से गुजरती हुई ऐसी परिस्थिति में पहुँच गयी थी जहाँ बहिर्मुख नैतिकता और मंगल साधना के विरुद्ध अन्तर्मुख भावना तथा रहस्य-कल्पना की प्रतिष्ठा अवश्यम्भावी थी। रवीन्द्रनाथ युगात्मा की इस पुकार के अपने आप में सबसे प्रबल प्रतीक थे और दूसरों के लिए प्रेरणा-स्रोत भी बन गये थे। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी कविता में द्विवेदी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया-रूप छायावाद का जन्म होना अवश्यम्भावी था और उसके लिए न केवल भूमि तैयार हो गयी थी वरन् अंकुर भी फूटने लग गये थे—रवीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रकाश ने उनका पोषण किया और छायावाद का विकास बड़े वेग से हुआ, इसमें सन्देह नहीं। छायावाद की रोमानी प्रवृत्तियों की समृद्धि का श्रेय निश्चय ही रवीन्द्रनाथ को है और पंत, निराला, महादेवी जैसे समर्थ कवियों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रेरणा तथा बल प्राप्त किया। पंत की आरंभिक कविताओं में रवीन्द्र-काव्य की अनुगूँज मिलती है जिसको लेकर निराला ने एक बड़े लम्बे लेख में यह सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास किया था कि पंत न केवल मूल प्रेरणा के लिए वरन्

अनेक भाव-छायाओं और बिम्ब-योजनाओं के लिए रवीन्द्रनाथ के ऋणी हैं। वास्तव में उस समय छायावाद को रवीन्द्र-काव्य की नकल मानने का कुछ ऐसा प्रवाद चल पड़ा था कि हिन्दी के आलोचक बिना किसी आधार के छायावादी कवियों पर रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करने का आरोप लगा रहे थे। पंत की अपेक्षा निराला का रवीन्द्र-काव्य से अधिक घनिष्ठ और प्रत्यक्ष परिचय था। बँगला एक प्रकार से उनके लिए मातृभाषा थी और रवीन्द्र-काव्य की अर्थ-छवियाँ तथा प्रयोग-वक्रताएँ उनकी कवि-चेतना में सहज रूप में रम गयी थीं। किन्तु निराला में आरम्भ से ही बाह्य प्रभाव के प्रतिरोध का इतना उत्कट आग्रह था कि उनके काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव ढूँढ निकालना कठिन है। फिर भी, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि निराला की कवि-चेतना का आरंभिक विकास जिस साहित्यिक वातावरण में हुआ उसके निर्माण में रवीन्द्र-नाथ का प्रमुख योगदान था। महादेवी ने भी निश्चय ही यह प्रेरक प्रभाव ग्रहण किया; किन्तु उनकी प्रगीत-कला का विकास बहुत कुछ स्वतन्त्र रूप में ही हुआ। वास्तव में छायावाद पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का उचित मूल्यांकन आरंभ में इसलिए नहीं हो सका कि उस समय छायावाद के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई थीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसे एक ओर जहाँ रहस्यवाद का ही प्रतिरूप माना, वहाँ दूसरी ओर उसे अभिव्यंजना का प्रकार मात्र घोषित किया। शुक्ल जी स्वभाव और सिद्धान्त दोनों से रहस्यवाद के विरुद्ध थे। दर्शन के क्षेत्र में वे अव्यक्त के व्यक्त प्रसार पर मुग्ध थे; भावना के क्षेत्र में लोकमंगलकारी नैतिक अनुभूतियों को और कला के क्षेत्र में वे मूर्त सौन्दर्य-बोध को ही प्राथमिक महत्त्व देते थे। छायावाद में एक प्रकार से इन तीनों का ही निषेध था—इसलिए वह आचार्य का अनुग्रहभाजन न बन सका। छायावाद का विरोध करते-करते वे उसके प्रेरक स्रोत रवीन्द्र-काव्य तक पहुँचे। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी आधुनिक कवि की रहस्यानुभूति। जब मध्य युग के कबीर आदि निर्गुण साधकों में भी उसे यथावत् स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति होती थी तो आधुनिक विज्ञान-युग के कवि की रहस्यानुभूति को स्वीकार करना तो और भी कठिन था। इसलिए हिन्दी के उदीयमान कवियों की तो उन्होंने अनुकर्ता मात्र कहकर उपेक्षा कर ही दी, साथ ही विश्वविख्यात रवीन्द्रनाथ की रहस्यानुभूति पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा से हतप्रभ होकर उन्होंने अपनी धारणाओं में संशोधन करना स्वीकार न किया और उन्हें रहस्यवादी की अपेक्षा महानु आलंकारिक मानना ही अधिक उपयुक्त समझा। अर्थात् रवि बाबू की रहस्याभि-

व्यक्तियों को उन्होंने अनुभूति-प्रेरित न मानकर अभिव्यंजना की विभूति ही अधिक माना। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने न केवल छायावाद का ही विरोध किया वरन् हिन्दी कविता पर रवीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया। बाद में चलकर जब छायावाद का स्वरूप स्पष्ट हुआ और यह निश्चय हो गया कि छायावाद हिन्दी काव्य-परम्परा का स्वाभाविक विकास है—तो यह स्वीकार करने में देर न लगी कि काव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की भाँति यद्यपि छायावाद ने भी उधर अंग्रेजी की रोमानी कविता और इधर रवीन्द्रनाथ की कविता से आरंभिक प्रेरणाएँ प्राप्त की थी—फिर भी वह उनकी छायामात्र नहीं है। तथ्य वास्तव में यह है कि पहले रवीन्द्रनाथ ने रोमानी कवियों से प्रेरणा ग्रहण की और फिर हिन्दी कवियों ने बहुत कुछ प्रत्यक्ष रूप में, और अंशतः रवीन्द्रनाथ के माध्यम से भी, अपने विकास के पहले चरण में उनका प्रभाव ग्रहण किया। छायावाद का जन्म होने तक रवीन्द्रनाथ विदेशी काव्य के उस प्रभाव को आत्मसात् कर चुके थे। उनकी महान् प्रतिभा शैले और कीट्स की किशोर कल्पनाओं को तब तक विराट् भारतीय आधार-फलक प्रदान कर चुकी थी और अंग्रेजी की लाक्षणिक भंगिमाओं को संस्कृत के ऐश्वर्य से मंडित कर चुकी थी; इसलिए हिन्दी-कवियों का कार्य अपेक्षाकृत सुकर हो गया।

किन्तु यह सब होते हुए भी छायावाद के अग्रणी कवि प्रसाद इन दोनों प्रभावों से मुक्त रहे—न उन्होंने अंग्रेजी के रोमानी कवियों का ऋण स्वीकार किया और न रवीन्द्रनाथ का ही। रवीन्द्रनाथ ने जहाँ पाश्चात्य रोमानी प्रभाव को कालिदास की रमणीय कल्पनाओं में ढालकर उन्हें भारतीय काव्य-चेतना का अंग बना लिया था, वहाँ प्रसाद की प्रेरणा का मूल स्रोत शुद्ध भारतीय ही रहा। अपने युग के रोमानी वातावरण से प्रेरित होकर वे पश्चिमी साहित्य की ओर नहीं गये वरन् भारत के प्राचीन साहित्य में बिखरे हुए रम्याद्भुत तत्त्वों का संधान करने लगे, जिसकी चरम परिणति हमें कामायनी में मिलती है। इसलिए प्रसाद की काव्य-चेतना रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना की अपेक्षा अधिक भारतीय और उसी सीमा तक अधिक मौलिक है। हिन्दी के सम्यक् प्रचार और प्रसार के उपरान्त जब भारतीय भाषाओं में कामायनी के महत्व की उचित प्रतिष्ठा हो सकेगी, उस समय, मुझे विश्वास है कि मेरी स्थापना की सत्यता अनायास की सिद्ध हो जायेगी।

हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओं के काव्य पर भी रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। प्रायः सभी भाषाओं में गीतांजलि का अनुवाद हुआ, कुछ भाषाओं में

सीधे बँगला से और कुछ में अँग्रेजी से । कुछ में केवल गद्यानुवाद ही हुए किन्तु कतिपय भाषाओं में छन्द का माध्यम भी ग्रहण किया गया : जैसे मराठी में, तेलुगु में, हिन्दी में । शीघ्र ही भारतीय कवियों ने यह अनुभव किया कि गीतांजलि रवीन्द्रनाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति नहीं है और उन्होंने कवि की अन्य समृद्ध रचनाओं का मूल अथवा अनुवाद में अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय काव्य में एक नवीन रहस्योन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष हुआ । तेलुगु में रायप्रोलु सुब्बाराव और अ० रामकृष्ण राव की कविताएँ इस नव प्रभाव से मंडित हैं । मलयालम में शंकर कुरुप, असन, उल्लूर और कन्नड़ में कुवेम्पु, बेन्द्रे तथा गोकक इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं । बेन्द्रे में रवीन्द्रनाथ का तरल सौन्दर्य-संगीत और कुवेम्पु तथा गोकक में बँगला कवि की अतीन्द्रिय रहस्योन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष है । मराठी में 'गूढगुंजन' नाम से जिस नव्य रहस्य-प्रवृत्ति का जन्म हुआ उसका प्रेरणा-स्रोत रवीन्द्र-काव्य ही था । केशवसुत, ताम्बे, बी और उधर विदर्भ-कवि अनिल, गुणवन्त हनुमन्त देशपांडे, वामन नारायण देशपांडे आदि की रमणीय वायवी भाववस्तु तथा रम्याद्भुत बिम्ब-योजनाओं में भी यह प्रभाव लक्षित होता है । गुजराती में इस वर्ग के कवि हैं स्नेहरश्मि, प्रह्लाद परीख आदि । कान्त ने गीतांजलि की निर्गुण भावना से प्रेरित होकर उसका गुजराती में अनुवाद किया । उत्तर पश्चिम की भाषाओं में पंजाबी के भाई वीरसिंह मूलतः सिक्ख गुरुओं की निर्गुण भक्ति से प्रेरित होने पर भी रवीन्द्रनाथ के सौन्दर्य-दर्शन से प्रभावित हुए । उर्दू कविता में यद्यपि सूफी-काव्य-परम्परा के प्रभाव के कारण बँगला कवि की मधुर रहस्य-भावना एकदम नयी नहीं थी फिर भी बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा और नियाज फ़तेहपुरी ने सन् १९१४ में गीतांजलि का अत्यन्त रसमय गद्य में अनुवाद प्रस्तुत किया । उर्दू साहित्य में 'अदबे लतीफ़' नाम से एक नई विधा का जन्म हुआ जो हिन्दी गद्य-काव्य का पर्याय था । इसको प्रेरणा मिली गीतांजलि के अँग्रेजी गद्यानुवाद से । सन् १९३५ में शांतिनिकेतन के मौलवी ज़ियाउद्दीन ने 'कलामे टैगोर' शीर्षक से मूल बँगला से अनूदित कवि की १२० कविताओं का संकलन प्रस्तुत किया । अप्रत्यक्ष प्रभाव या प्रेरणा की दृष्टि से भी उर्दू काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ा किन्तु वह प्रायः सामान्य कवियों तक ही सीमित रहा । पूर्वी भाषाओं में उड़िया के 'सबुजा वर्ग' के कवि और असमिया के हितेश्वर बरबरुआ, यतीन्द्रनाथ दुवरा तथा देवकान्त बरुआ जैसे कवि-कलाकारों में रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्टतः उपलब्ध होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि बीसवीं शताब्दी के दूसरे, तीसरे और

चौथे दशक में भारतीय साहित्य में जिस स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति का जन्म और विकास हुआ उसके प्रेरक प्रभाव यद्यपि अनेक थे : जैसे कि अंग्रेजी रोमानी-काव्य, मध्ययुग का सन्तकाव्य और सूफीकाव्य, फिर भी उसका स्रष्टा नहीं तो नेता रवीन्द्रनाथ को निश्चय ही मानना पड़ेगा ।

रवीन्द्र-काव्य का दूसरा प्रधान स्वर है सांस्कृतिक-राष्ट्रीय काव्य । सांस्कृतिक धरातल पर रवीन्द्रनाथ ने मानवता के अखंड रूप की प्रतिष्ठा कर देश, काल, जाति, वर्ग द्वारा अविभक्त एवं अविच्छिन्न मानव-गरिमा का यशोगान किया, राजनीतिक और सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त मनुष्य में प्रच्छन्न देवता का उद्घाटन किया । भारत के वे कवि भी जो रहस्य-द्रष्टा नहीं थे अथवा रहस्य-दर्शन में जिनकी आस्था नहीं थी, जो प्रत्यक्ष और मूर्त जीवन-जगत के प्रति निष्ठावान् थे, रवीन्द्र-काव्य के इस रूप की ओर आकृष्ट हुए । विश्व-मानव या सांस्कृतिक मानव का यह रूप निश्चय ही बड़ा भव्य था । इधर विदेशी दासता से आक्रांत भारतीय जन-मानस ने और उधर भौतिक संघर्ष से जर्जर पश्चिम के प्रबुद्ध समाज ने इसका मुक्त हृदय से स्वागत किया । खंडित राष्ट्रीयता से अबद्ध अखंड मानव-संस्कृति की कल्पना, जिसका निर्माण विश्वकवि की सार्वभौम प्रतिभा ने उपनिषद् की अद्वैत-कल्पना और उससे प्रभावित मध्ययुग के सन्त-काव्य, इष्ट की मधुर कल्पना में सांसारिक विभेद को निमज्जित करने वाली वैष्णव-भावना, बुद्ध की विश्व-करुणा और पश्चिम की मानवतावादी विचार-धारा के रासायनिक तत्त्वों द्वारा किया था, हमारे कवि-कलाकारों के लिए अक्षय प्रेरणा-स्रोत बन गयी । राष्ट्रीय धरातल पर भी कवि ने अनेक संस्कृति-धाराओं के संगम में ऐसे ही भारत-तीर्थ की प्रकल्पना की । २०वीं शती के पूर्वार्द्ध में सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की यह धारा अनन्त कल्लोलों के साथ प्रभावित होती रही । तमिल के भारती, मलयालम के वल्लतोल, गुजराती के उमाशंकर जोशी, मराठी के केशवसुत तथा गोविन्दाग्रज, हिन्दी के मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, पन्त, नवीन, दिनकर आदि, उर्दू के चकबस्त, पंजाबी के गुरुमुखसिंह मुसाफिर, हीरासिंह दर्द आदि ने अपने काव्यों में विभिन्न भंगिमाओं के साथ इस स्वर को मुखरित किया । इन कवियों ने वास्तव में रवीन्द्रनाथ से सीधा प्रभाव ग्रहण नहीं किया, अपने-अपने क्षेत्र में ये सभी 'साहबेकलाम' थे । किन्तु भाव-कल्पना के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने और विचार तथा कर्म के क्षेत्र में गांधी ने जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया था उसका लाभ इन सभी कवियों ने ग्रहण किया । गांधी ने देश की आत्मा को प्रबुद्ध कर उसमें जो उत्साह-स्फूर्ति

एवं कर्म-चेतना उत्पन्न की थी, रवीन्द्रनाथ ने बैभवपूर्ण भारतीय संस्कृति के रंगों से उसे जगमग कर दिया और इस प्रकार कर्म का तेज भावना तथा कल्पना के ऐश्वर्य से मंडित हो गया। युग-धर्म से प्रेरित रवीन्द्रनाथ ने काव्य-रसायन की यह प्रक्रिया पूर्ण कर जागरण युग के भारतीय कवियों का मार्ग-प्रदर्शन किया।

आधुनिक युग के तीसरे चरण में रवीन्द्रनाथ का भारतीय कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिस प्रकार स्वयं बँगला में उनकी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई उसी प्रकार भारतीय भाषाओं के काव्य में भी अपनी-अपनी परिधि के भीतर रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह हुआ जो आज भी चल रहा है।

गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव आरम्भ से ही बहुत कम रहा। भारतीय उपन्यास-कला ने बहुत शीघ्र ही युग-जीवन की बढ़ती हुई माँग को स्वीकार कर बँगला उपन्यास की रंगीन भावुकता का त्याग कर दिया और गांधी-दर्शन से प्रभावित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्वस्थ भूमिका पर अपना स्वतंत्र विकास किया। हिन्दी में प्रेमचंद ने इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया, गुजराती में रमणलाल वसन्तलाल देसाई ने और मराठी में हरिनारायण आप्टे ने। इन उपन्यासकारों का प्रभाव अपनी-अपनी भाषाओं से बाहर भी पड़ा। उदाहरण के लिए उर्दू और पंजाबी पर प्रेमचंद का गहरा प्रभाव था। आगे चलकर इस विवेक-सम्मत उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जब हृदय की कोमल वृत्तियों ने विद्रोह किया तब भी शरत् की आत्मपीड़नमयी कला का भीगा प्रभाव ही भारतीय उपन्यास ने अधिक ग्रहण किया। बाद में तो मार्क्स तथा फ्रायड की विचार-धाराएँ बँगला-उपन्यास की तरह भारत की विभिन्न भाषाओं के उपन्यास-साहित्य पर भी व्यापक एवं गहरा प्रभाव डालने लगीं। इस प्रकार भारतीय उपन्यास विचार के क्षेत्र में गांधी, मार्क्स तथा फ्रायड का और कला के क्षेत्र में प्रेमचन्द, ताल्स्टाय, शरत् तथा लारेंस आदि का जितना ऋणी है उतना रवीन्द्रनाथ का नहीं। नाटक के क्षेत्र में भी यही बात है। भारतीय नाट्य-साहित्य को संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से रोमांटिक ड्रामा के नाट्य-शिल्प की ओर उन्मुख करने में बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय का ही योगदान अधिक है। हाँ, भारतीय लघुकथा रवीन्द्रनाथ की कहीं अधिक ऋणी है। आधुनिक कहानी में कवित्व, सघन मानव-तत्त्व और प्रतीकात्मकता के लिए रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उत्तरदायी हो सकता है, क्योंकि रवीन्द्र-साहित्य में सबसे अधिक अनुवाद उनकी गल्पों के ही हुए हैं। इस व्यापक प्रचार और प्रसार का परिणाम स्पष्ट था और स्वयं प्रेमचन्द जैसे कथाकार को, जिनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था, कहानी के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्वीकार

करना पड़ा। गद्य-रूपों में रवीन्द्रनाथ का सबसे अधिक प्रभाव कदाचित् गद्य-काव्य पर माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की कविता के अंग्रेजी गद्यानुवाद की प्रेरणा से भारत की प्रायः सभी भाषाओं में भावप्रधान गद्य-गीतों का जन्म हुआ। भारतीय साहित्य की यह नई विधा जो संस्कृत कवियों के निकष-रूप गद्यकाव्य से सर्वथा भिन्न थी, रवीन्द्रनाथ से तो नहीं—रवीन्द्र साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद से प्रभावित होकर प्रकाश में आयी।

भारतीय आलोचना पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव नगण्य-सा ही है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आधुनिक भारतीय आलोचना में रवीन्द्रनाथ ने फिर से आनन्दवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की। पर यह अनुमान शायद सही नहीं है। भारतीय भाषाओं में आलोचना एवं आलोचना-शास्त्र का सर्वाधिकार विकास हिन्दी और मराठी में हुआ है और इन दोनों ही भाषाओं में आलोचना की शास्त्रीय परम्परा सर्वथा अक्षुण्ण रही है। इसलिये इनकी आलोचना को भारतीय रसवाद का पुष्ट आधार प्राप्त है। संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों ने शब्द-अर्थ के चमत्कार और भाव की आनन्दमयी परिणति के विषय में सूक्ष्म-गहन अनुसंधान कर अन्ततः रस को ही काव्य की आत्मा माना है और रस की नाना प्रकार से व्याख्या कर उसे आत्मास्वाद के रूप में ही स्वीकार किया है। हिन्दी और मराठी के आधुनिक आलोचकों ने रस-सिद्धांत का पुनराख्यान कर पाश्चात्य आलोचना के आनन्दवादी अथवा सौंदर्यवादी मूल्यों के साथ उसका सामंजस्य स्थापित किया। शास्त्र के प्रति अटूट निष्ठा होने के कारण इन दोनों भाषाओं के आलोचकों ने आलोचना में कल्पना और भावुकता को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। सिद्धांत रूप में रवीन्द्रनाथ की आलोचना भारतीय रसवाद और पाश्चात्य रोमानी आलोचना से प्रभावित है। वे काव्य में 'रसो वै सः' के ही कायल हैं। किंतु उन्होंने सुंदर को शिव और सत्य से अलग करके नहीं देखा और साहित्यिक क्षेत्र में उनकी आनन्द-कल्पना लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है। नैतिक मूल्यों में उनकी अटूट आस्था है किंतु ये नैतिक मूल्य आत्मा के रस में पगे हुए हैं। स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण का रवीन्द्रनाथ ने जीवन और काव्य दोनों में निषेध किया है। युग-धर्म के प्रभाव के अनुरूप उन्होंने व्यापक सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर भारतीय रसकल्पना का विस्तार कर उसे पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी रोमानी आलोचना की पद्धति में ढालकर प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक आलोचना उनकी प्रायः सर्जनात्मक है; शकुन्तला, मेघदूत आदि के आध्यात्मिक अथवा अर्ध-आध्यात्मिक आख्यान में कवि-कल्पना का ही प्रसार अधिक है। कहने का अभिप्राय यह है कि रवीन्द्रनाथ की आलोचना अशास्त्रीय और बहुधा कल्पनात्मक है। इसलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसका प्रतिवाद किया

और उसे शुद्ध आलोचना की कोटि में परिगणित नहीं किया। हिंदी के छायावादी कवियों—विशेषकर महादेवी का सिद्धांत-प्रतिपादन रवींद्रनाथ से मिलता-जुलता है, कदाचित् उनसे प्रभावित भी हो सकता है। महाराष्ट्रीय आलोचक-प्रतिभा और भी अधिक शास्त्रनिष्ठ है। वहाँ के प्रतिनिधि आलोचकों ने भारतीय तथा यूरोपीय काव्य-सिद्धांतों का अत्यन्त मनोनिवेश के साथ विवेचन-विश्लेषण किया है; किंतु उनकी आलोचना के आधार शास्त्र अर्थात् काव्यशास्त्र, मनो-विज्ञान और दर्शन ही रहे हैं, कल्पना और भावुकता को प्रश्रय नहीं दिया गया। इस प्रकार आधुनिक युग में भारतीय आलोचना, अपने परिनिष्ठित रूप में, देश-विदेश के विभिन्न मूल्यों और तत्त्वों को ग्रहण करती हुई भी शास्त्र के पथ से विचलित नहीं हुई—वह कालिदास और रवींद्रनाथ की अपेक्षा भरत, भामह, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट और उधर अरस्तू, आर्नल्ड, क्रोचे या व्यापक धरातल पर मार्क्स और फ्रायड को ही प्रमाण मानती रही है। अन्त में, मेरे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१—अनेक भाषाओं के इस देश में किसी एक भाषा के कवि का जितना प्रभाव हो सकता था, अनुकूल परिस्थितियों के कारण, रवींद्रनाथ का प्रभाव भारतीय काव्य पर उससे अधिक ही मानना चाहिए। किन्तु इस प्रभाव के सूत्रों को अलग-अलग कर देखना सरल नहीं है, क्योंकि स्वयं रवींद्रनाथ के काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण स्वदेश-विदेश के ऐसे विभिन्न प्रभावों के संघात से हुआ था जो उनके समसामयिक एवं परवर्ती कवियों के लिए भी उसी रूप में सहज-सुलभ थे। उनिषद् के आनंदवाद, वैष्णव-काव्य की मधुर-भावना या इंग्लैण्ड के रोमानी कवियों के स्वच्छंदतावाद या कालिदास-काव्य के सांस्कृतिक वैभव का उपयोग रवींद्रनाथ ने जिस प्रकार किया है, उसी प्रकार अन्य कवियों ने भी। आरम्भ में कहीं-कहीं यह प्रभाव रवींद्रनाथ के माध्यम से आया है किन्तु बाद में चलकर इस माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ी।

२—आधुनिक भारतीय साहित्य में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से पाश्चात्य रोमानी-काव्य से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर जिस स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति का जन्म हुआ रवींद्रनाथ उसके स्रष्टा न होकर अग्रणी थे। अपनी महाद् प्रतिभा के द्वारा वे इस रोमानी काव्य-प्रवृत्ति के प्रेरक प्रभावों को भारत के अन्य स्वच्छंदतावादी कवियों से बहुत पहले ही आत्मसात् कर चुके थे। इन नवीन स्वच्छंद अनुभूतियों और रहस्यमयी जिज्ञासाओं को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए जिस माध्यम की अपेक्षा थी रवींद्रनाथ की समृद्ध कारयित्री प्रतिभा उसका निर्माण कर चुकी थी, जिससे परवर्ती कवियों का कार्य सुकर हो गया।

३—सामान्य रूप में बीसवीं शताब्दी का प्रतिनिधि जीवन-दर्शन है मानवतावाद, जिसके भारत में दो प्रमुख व्याख्याकार हुए : एक गांधी और दूसरे रवीन्द्र । गांधी ने मानव-सत्य का जहाँ अनुभव और व्यवहार के द्वारा साक्षात्कार किया वहाँ रवीन्द्रनाथ ने कल्पना के द्वारा । दोनों के मानवतावाद की परिणति भौतिक सीमाओं को पार कर आत्मावाद में होती है । किन्तु फिर भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं । गांधी-दर्शन निरानन्द है जबकि रवीन्द्र-दर्शन आनन्द से ओतप्रोत है । युग-धर्म के इन दोनों द्रष्टाओं ने स्वभावतः ही समसामयिक साहित्य को प्रभावित किया है । गांधी की दृष्टि आदर्शवादी एवं धार्मिक थी अतः साहित्य के क्षेत्र में उसके प्रभाव से लोकमंगल की नये एवं प्रबल रूप में प्रतिष्ठा हुई और लोककल्याण को साहित्य का एकमात्र लक्ष्य माननेवाले प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा साहित्यकार अपनी कला में उसकी अभिव्यक्ति करने लगे । उधर कल्पनाशील तथा भावुक कवि-लेखकों की गांधी के एकान्त उपयोगितावादी निरानन्द कला-दर्शन से तृप्ति नहीं हुई, इनके आदर्श बने रवीन्द्रनाथ । इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने एक ओर स्वच्छंदतावादी-रहस्यवादी काव्य-प्रवृत्ति को प्रभावित किया और दूसरी ओर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा को भी ।

४—गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत कम रहा । उनकी अपेक्षा बँगला के ही शरत् ने भारतीय उपन्यास को और द्विजेन्द्रलाल राय ने भारतीय नाटक को अधिक प्रभावित किया । जब तक इन दोनों कलाकारों की दुर्बलता का उद्घाटन हुआ तब तक भारतीय उपन्यासकार और नाटककार यूरोप की कलाकृतियों के प्रत्यक्ष संपर्क में आ चुके थे और स्वयं बँगला के कलाकार भी रवीन्द्रनाथ आदि से विमुख होकर दूसरी दिशा में प्रवृत्त हो गये थे ।

५—सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नवनिर्माण में सक्रिय योगदान कर प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की । उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियों की प्रारंभिक रचनाओं तक ही सीमित रहा । बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवियों का स्वतंत्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियाँ भी प्रस्तुत कीं जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं । रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि आधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता । किन्तु इस युग की कई समृद्ध भाषाओं में ऐसी प्रतिभाएँ हुई हैं जिनकी उपलब्धियों का इकाई रूप में कम महत्त्व नहीं है । आज के जागरूक आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनातंकित रहकर संतुलित एवं अनासक्त बुद्धि से अन्य प्रतिभाओं का अवमूल्यन न

करता हुआ आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में रवीन्द्रनाथ के योगदान का मूल्यांकन करे। विश्वकवि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की यही सर्वश्रेष्ठ पद्धति है—अभाव में भाव का अनुसंधान कर, अनुमान के आधार पर, इधर-उधर से उक्तियाँ और विचार एकत्र कर बरबस यह सिद्ध करना कि हमारे वर्तमान साहित्य में जो कुछ सुन्दर और उदात्त है वह सब रवीन्द्रनाथ का दान है, घोर साहित्यिक अपराध होगा।

कामायनी का महाकाव्यत्व

ज्यों ही मैं कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता हूँ, मुझे लांजाइनस की यह प्रसिद्ध उक्ति अनायास ही याद आ जाती है—

“महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्त्य में..... कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।” (काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ६६)

कामायनी के शिल्प-विधान में निश्चय ही अनेक छिद्र रह गये हैं—उसका वास्तु-शिल्प अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच सका ; उसकी आधारभूत प्रकल्पना में जो अखंडता है, उसका प्रतिफलन वस्तु-विन्यास में नहीं हो पाया—अंगों की समन्विति कई जगह टूट गई है ; अभिव्यंजना में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं जो व्याकरण और काव्य-शास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, कुछ बिम्ब अधूरे रह गये हैं—अलंकार छिन्न-भिन्न हो गये हैं, शब्दों के फूलों की जाली में पत के कोमल स्पर्श की साज-सँवार नहीं है, कहानी में मैथिलीशरण गुप्त की प्रबंध-कला की गठन और प्रवाह नहीं है—आदि-आदि ! उसके दोषों की अन्वेषणा आज कुछ अधिक व्यग्रता से की जा रही है। आलोचक उसके गौरव के प्रति जितना आकृष्ट हो रहा है, आज का स्रष्टा कलाकार उसकी अपूर्णता के प्रति उतना ही आग्रहशील हो उठा है। इस प्रकार कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद और विवादों के रहते हुए भी कदाचित् सबसे महान् उपलब्धि है।

कामायनी की रचना प्रसाद ने महाकाव्य के रूप में की है। आमुख में मनु-श्रद्धा की कथा के ऐतिह्य रूप को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो उत्कट आग्रह व्यक्त किया है उसका मुख्य प्रयोजन यही है। अतः महाकाव्य के रूप में ही कामायनी का मूल्यांकन करना कवि के मौलिक उद्देश्य के अधिक निकट रहेगा। स्वदेश-विदेश के काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों की गणना प्रस्तुत संदर्भ में कदाचित् अधिक सार्थक न होगी। इसलिए मैं महाकाव्य के

उन्हीं मूल तत्त्वों को लेकर चलूंगा जो देशकाल-सापेक्ष नहीं हैं, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। ये मूल तत्त्व हैं—१. उदात्त कथानक, २. उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य, ३. उदात्त चरित्र, ४. उदात्त भाव और ५. उदात्त शैली। अर्थात् औदात्य ही महाकाव्य का प्राण है। किन्तु इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि औदात्य और माधुर्य में किसी प्रकार का प्रकट या प्रच्छन्न विरोध है। इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए मैं आधुनिक आलोचक ए० सी० ब्रैंडले के औदात्य-संबंधी प्रसिद्ध लेख की ओर इंगित करूंगा जिसमें उन्होंने उदात्त को सौन्दर्य-शास्त्र का शब्द मानते हुए उसे व्यापक अर्थ में सौन्दर्य का ही एक रूप माना है। उनके अनुसार स्थूलतः सुन्दर के पाँच भेद किये जा सकते हैं—उदात्त, भव्य, मधुर, मनोरम और ललित। इनमें पराकोटि है उदात्त और अपरा कोटि है ललित। अतः सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से ललित और उदात्त में भी कोई विरोध नहीं है—मधुर की स्थिति तो उदात्त के और भी अधिक निकट है। भारतीय दर्शन में ईश्वर की कल्पना और भारतीय काव्य-शास्त्र में धीरोदात्त नायक की कल्पना ब्रैंडले के मत का मंडन तथा उपर्युक्त विरोध का खंडन करती है। कामायनी के महाकाव्यत्व का मूल्यांकन करने से पहले इस भ्रांति का निराकरण आवश्यक था।

उदात्त कथानक

कथानक का अर्थ है घटनाओं का समन्वय। अतः उदात्त या महान् कथानक का अर्थ हुआ महान् घटनाओं का समन्वय। घटना की महत्ता का मापक है उसका प्रबल प्रभाव तथा देशकाल में विस्तार। इस प्रकार महाकाव्य के कथानक का निर्माण ऐसी घटनाओं से होता है जिनका प्रभाव प्रबल एवं स्थायी हो और देश तथा काल दोनों में जिनका विस्तार हो। इसके साथ ही उदात्त कथानक के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका स्वरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में ध्वंसात्मक न होकर रचनात्मक हो—उसकी परिणति शुभ और मंगलमयी हो। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि कामायनी की घटनाएँ अत्यन्त उदात्त एवं महान हैं। किन्तु, उनका क्षेत्र ब्रह्माण्ड नहीं है, पिण्ड है—मानव-आत्मा या मानव-चेतना है। परम्परागत महाकाव्यों की आधारभूत घटनाओं—युद्ध आदि की भाँति उनका विस्तार

भौतिक जगत में लक्षित नहीं होता—उनका विस्तार होता है मानव-चेतना के भीतर जहाँ घटित होकर वे समग्र मानव-जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव डालती हैं। कामायनी की प्रमुख घटनाएँ हैं : स्वार्थपूर्ण अहंकार का पराभव, पुरुष और नारी का प्रथम मिलन, नारी का सर्वस्व-समर्पण, पुरुष और नारी के प्रणयपूर्ण संसर्ग से संसृति-विकास, पुरुष की अबाधित अधिकार-भावना—उसके लिए बुद्धि-बल से भौतिक संघर्ष और अधिकार-क्षेत्र का प्रसार, अतिचार एवं कुंठा, बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने का उद्दाम प्रयत्न और उसके परिणामस्वरूप मानव-चेतना की पूर्ण विफलता, इस विफलता के मूल कारण को अवगति, और अन्त में सामरस्य तथा उसके फलस्वरूप पूर्णानन्द की सिद्धि। मानव के अधिमानसिक जीवन में इन सभी घटनाओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। विश्व में होने वाली प्रबल घटनाएँ, नाश और निर्माण के समस्त दृश्य, भौतिक संघर्ष और विकास के विभिन्न रूप इन्हीं घटनाओं के प्रतिबिम्ब हैं। अवचेतन मनोजगत के उद्घाटन और तत्सम्बन्धी अनुसन्धानों से यह स्पष्ट हो गया है कि भौतिक जगत का विराट् घटनाचक्र मानव-चेतना के अतल गह्वरों में होने वाले घटना-चक्र की छाया मात्र है। कामायनी के कवि ने इस रहस्य को समझा है और वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग करते हुए अपने महाकाव्य में इसका प्रतिफलन किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि कामायनी की घटनाओं में निश्चय ही महाकाव्योचित प्रबलता और आयाम है; किन्तु यह प्रबलता और आयाम आधिभौतिक अर्थात् बाह्य एवं ऐहिक नहीं हैं—चेतनागत तथा आध्यात्मिक है।

उपर्युक्त स्थापना का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि कामायनी की घटनाओं में भौतिक जगत की सघनता का सर्वत्र अभाव है। जहाँ कथा का विकास मूर्त्त जगत की पृष्ठभूमि में होता है वहाँ परम्परागत महाकाव्य की घटनाओं की सघनता एवं विस्तार भी यथावत् विद्यमान है—उदाहरण के लिए आरम्भिक सर्ग से देवदम्भ और प्रलय के वर्णन अथवा 'संघर्ष' सर्ग से सारस्वत नगर के वैभव के बीच प्रजा के साथ मनु के द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी कामायनी के कथानक की गरिमा इन प्रसंगों में उतनी नहीं है जितनी कि मनु (मानव) के अहंकार के विस्तार में अथवा बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने के लिए मानव-चेतना के निर्बाध प्रयास में, अथवा आत्मा की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक त्रिलोक के दर्शन से मानव-चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि में। बाह्य दृष्टि से देखने पर ये घटनाएँ अपनी अमूर्त्तता के कारण अनाकर्षक प्रतीत होती हैं, किन्तु वर्तमान युग में जिस प्रकार मानव-चेतना बुद्धि पर अबाध अधिकार

प्राप्त करने का दुर्दम प्रयास कर रही है उसे देखते हुए इससे प्रबलतर घटना की कल्पना करना सम्भव नहीं है ।

सामासिक रूप से विचार करने पर भी कामायनी के कथानक में अपूर्व आयाम है । वह केवल एक महापुरुष की जीवन-गाथा नहीं है, एक राजवंश का वृत्तवर्णन मात्र नहीं है, एक युग या राष्ट्र की कथा नहीं है । वह तो संपूर्ण मानवता के विकास की गाथा है—अथ से इति तक । अन्य महाकाव्य जहाँ मानव-सम्यता के खंड-चित्र प्रस्तुत कर रह जाते हैं, वहाँ कामायनीकार ने उसका समग्र चित्र प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण प्रयास किया है । यह प्रयास पूर्ण नहीं हुआ, किन्तु इसका परिधि-विस्तार इतना अधिक है कि अपनी अपूर्णता में भी यह अद्भुत है—असामान्य है ।

उदात्त कार्य

कामायनी का कार्य है भाववृत्ति, कर्मवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति के सामंजस्य द्वारा समरसता और उसके फलस्वरूप आनंद की सिद्धि । कवि ने इस कार्य की सिद्धि के लिए त्रिलोक के प्रतीक की उद्भावना कर अत्यन्त कौशलपूर्वक उसे दिगन्त-विस्तार प्रदान कर दिया है । आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है इच्छा, क्रिया, और ज्ञान की विशृंखलता । मानव-चेतना के इतिहास में जब-जब इन तीनों में असामंजस्य हुआ है, जीवन-विकास अवरुद्ध हो गया है—संसार में अराजकता और अशांति फैल गई है । आज के भौतिक जीवन का भी सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि हमारे धर्म और संस्कृति की दिशा एक है, राजनीति की दूसरी और विज्ञान की तीसरी—क्रमशः भाव, क्रिया और ज्ञान के ये प्रतिरूप एक दूसरे से असम्बद्ध हैं । इसका परिणाम है वर्तमान अशान्ति—जो वास्तविक युद्ध अथवा शीत युद्ध आदि के रूप में व्यक्त हो रही है । इस भीषण समस्या का समाधान है मानवता के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए जीवन की इन तीनों प्रवृत्तियों में ऐकात्म्य स्थापित करना । ज्योंही मानव-कल्याण को लक्ष्य बनाकर हमारी संस्कृति, हमारी राजनीति और हमारा विज्ञान एकान्वित हो जायेंगे, तुरन्त ही इस युग की विषम समस्या का समाधान हो जायेगा । इस प्रकार कामायनी में वर्तमान के आधार-फलक पर प्रसाद ने मानव-जीवन की उस मूल समस्या का चिरंतन समाधान प्रस्तुत किया है जो सामयिक होकर भी शाश्वत है । सामयिक तथा सार्वकालिक और एकदेशीय तथा सर्वदेशीय का यह एकीकरण महाकाव्य का प्रधान लक्षण है और इस लक्षण का निर्वाह जिस भव्य रूप में कामायनी के अन्तर्गत हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं । इस प्रकार कामायनी का कार्य

सबंथा उदात्त है। ऐसी गरिमा और ऐसा विराट् आग्राम और किस महाकाव्य के कार्य में है ?

उदात्त भाव

कामायनी का मूलवर्ती भाव अथवा महाभाव भी, जिसे काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'अंगीरस' कहा गया है, अपने प्रतिपाद्य के अनुरूप ही है। सामान्यतः उसमें विभिन्न रसों का परिपाक है : श्रद्धा मनु के प्रसंगों में संयोग-वियोगमय शृंगार, श्रद्धा और कुमार के प्रसंग में वात्सल्य, प्रलय के वर्णन में भयानक, देवताओं के अवसान में करुण, संघर्ष तथा रुद्रकोप में वीर एवं रौद्र, शिवताण्डव के वर्णन और रहस्य सर्ग में अद्भुत का प्रसार, पशु की हत्या में बीभत्स, आरम्भ तथा मध्य में निर्वेदमूलक शान्त और अन्त में आनन्दपूर्ण सामरस्य में भी शान्त रस का भव्य विकास है। परन्तु इनमें से किसी भी एक को, औरों का तो प्रश्न ही नहीं—काव्यशास्त्रीय अर्थ में शान्त या शृंगार को भी, कामायनी का महारस मानना कठिन है। उसके पूर्वार्द्ध में शृंगार का प्राधान्य है तथा उत्तरार्द्ध में शान्त का। और, इन दोनों रसों का ही इतना प्रबल परिपाक हुआ है कि किसी एक को अंगीरस मानना कठिन है—वस्तुतः प्रसाद ने ऐसा किया भी नहीं है। सीमित काव्यशास्त्रीय अर्थ में प्रसाद ने न शृंगार को और न शान्त को कामायनी का अंगीरस बनाया है। जिस प्रकार कामायनी का कथानक जीवन को अखंडता में ग्रहण करता है और जिस प्रकार कामायनी का प्रतिपाद्य जीवन की एकांगी सिद्धि न होकर सर्वांगीण सिद्धि ही है, इसी प्रकार कामायनी का अंगीरस भी एकांगी शान्त या शृंगार नहीं है, वरन् अखंड आत्म रस है। इसी को महारस या आनंद रस कहा गया है। अभिनव ने इसे ही मौलिक अर्थ में शान्त और भोज ने शृंगार की संज्ञा प्रदान की है। स्वयं प्रसाद के शब्दों में भी यही मौलिक रस है जो सामान्य अर्थ में रस की दोनों सीमाओं—शृंगार तथा शान्त—का स्पर्श करता है और जो निस्तरंग महोदधिकल्प सामरस्य का पर्याय है:—

“शैवागम के आनंद सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओं शृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे। ‘.....यह शांतरस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है।”

उदात्त चरित्र

✓ भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए और धीरोदात्त के लक्षण हैं, महासत्त्व, अतिगम्भीर, भमावान्, अवि-

कथन, स्थिर, निगूढ़-अहंकारवान् और दृढ़व्रत । इन लक्षणों के आधार पर स्पष्टतः मनु धीरोदात्त नायक सिद्ध नहीं होते । धीरोदात्त नायक के व्यक्तित्व का निर्माण जहाँ मानव-सम्भ्यता की अत्यन्त विकसित स्थिति में ही संभव है, वहाँ मनु का व्यक्तित्व-विकास मानव-चेतना के विकास का प्रतीक है । मनो-विज्ञान तथा विकासवाद (जिनको प्रसाद ने आधार रूप में ग्रहण किया है)—दोनों के ही अनुसार आदि-पुरुष मनु का चरित्र पूर्ण विकसित रूप में अंकित नहीं किया जा सकता था । सहज मानव-चेतना का प्रतीक होने के नाते मनु का चरित्र विकासशील हैं; शैवदर्शन की शब्दावली में वह पाशव या ग्राणव स्थिति से आरम्भ होकर शांभव स्थिति को प्राप्त करता है । नायक के चरित्र का यह विकास कामायनी के प्रतिपाद्य के अनुरूप ही नहीं है बरन् उसके लिए अनिवार्य भी है—धीरोदात्त गुणों से समन्वित विकसित चरित्र की संगति न कामायनी के कथानक के साथ बैठ सकती है और न उसके प्रतिपाद्य के साथ ही । इसलिए, मनु की दुर्बलताओं का उल्लेख कर जो कामायनी की दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हैं वे कामायनी के स्वरूप तथा लक्ष्य दोनों के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करते हैं । अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण मनु अहंकार, स्वार्थ, इंद्रिय-लिप्सा, अस्थिरता आदि अलग मानव-चेतना की हीनतर प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकते थे, किन्तु क्रमशः इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर वे पूर्ण समरस मानवत्व, आध्यात्मिक शब्दावली में शिवत्व की सिद्धि करते हैं जहाँ वे धीरोदात्त स्थिति से भी कहीं ऊपर उठ जाते हैं ।

एक पुरुष का प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष और उस पर विजय का महान् प्रयास !—मनु के चरित्र-चित्रण का एक रूप यह भी हो सकता था, जो परम्परागत महाकाव्य के अनुरूप होता ! आचार्य शुक्ल प्रजापति मनु का चरित्र-विकास इसी रूप में देखना चाहते थे : इसीलिए कामायनी में उसका अभाव देखकर उनका मन खिन्न हो गया । इसमें संदेह नहीं कि प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से मनु का वह विराट् व्यक्तित्व-विकास निश्चय ही बड़ा आकर्षक होता; किन्तु कामायनी का कवि तो अपने कथानक तथा प्रतिपाद्य की विशेष परिस्थितियों से विवश था, अतः उसके लिए यह पद्धति ग्रहण करना संभव ही नहीं था । अन्त-मुख कथानक के नायक का व्यक्तित्व-प्रसार देशकाल के विस्तार में संभव नहीं था, इसीलिए चाणक्य, स्कन्दगुप्त आदि धीरोदात्त चरित्रों की सफल सर्जना करने के उपरान्त भी प्रसाद शुक्ल जी की उस विराट् कल्पना-मूर्ति का अंकन नहीं कर सके । यह भव्य चित्र उनकी कल्पना में उभरा ही न हो, ऐसा नहीं है । इस शंका को निर्मूल करने के लिए कामायनी की आरम्भिक पंक्तियों का उद्धरण पर्याप्त होगा:—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह ॥
नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन ॥

प्रकृति के सार्वभौम आधार-फलक पर एक पुरुष के रूप में मनु की यह प्रतिष्ठा उसी विराट् कल्पना की ओर संकेत करती है; किन्तु स्पष्ट है कि उपर्युक्त कारणों से कवि उसे मूर्तरूप नहीं दे सका ।

श्रद्धा का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल है । सात्त्विक गुणों से पूर्ण विश्वमंगल-भावना की प्रतीक श्रद्धा का व्यक्तित्व विकास की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्पष्टतः श्रद्धा, मनु की भाँति, अनगढ़ मानव-चेतना का उसके समग्र रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करती । मनु के व्यक्तित्व में जहाँ मानव-चेतना की हीनतर और उच्चतर दोनों ही प्रवृत्तियों का मिश्रण अनिवार्य था वहाँ श्रद्धा केवल उच्चतर प्रवृत्तियों अर्थात् दया, माया, ममता, मधुरिमा और विश्वास आदि, ऐसी प्रवृत्तियों का ही प्रतिनिधित्व करती है जो मानव-चेतना को पूर्णस्व — दार्शनिक शब्दावली में पूर्ण शिवत्व, प्राप्त करने में सहायता देती हैं । इस प्रकार श्रद्धा के चरित्रांकन में वह बाधा नहीं रही जो मनु के प्रसंग में थी; अतः उसमें परम्परागत महाकाव्योचित औज्ज्वल्य एवं गरिमा का भी अद्भुत समावेश हो गया है । यही इड़ा के विषय में भी सत्य है । उसके व्यक्तित्व में भी वांछित ऐश्वर्य एवं गरिमा है । किन्तु श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ का द्योतन भी करती हैं; स्वभावतः उनकी प्रतीकता के कारण चारित्रिक रूपरेखा में वैसी दृढ़ता और मूर्त सघनता नहीं आ सकी जैसी कि पाश्चात्य महाकाव्यों के चरित्रों में मिलती है ।

उदात्त शैली

कामायनी की शैली सर्वत्र ही एक अपूर्व लोकोत्तर स्तर पर अवस्थित रहती है । उसमें क्षुद्रता का एकान्त अभाव है : प्रयत्न करने पर संपूर्ण काव्य में एकाध अपवाद ही मिलेगा । पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य की शैली का प्रमुख गुण माना है असाधारणता । कामायनी की शैली में इस गुण का प्राचुर्य प्रायः दोष

की सीमा तक पहुँच गया है। यहाँ सामान्य प्रसंगों में भी शैली का स्तर प्रायः असामान्य ही रहता है और जहाँ कहीं कवि सामान्य घरातल पर उतरने का प्रयत्न करता है, वहीं शैली का स्वरूप विकृत हो जाता है। फलतः उसमें अद्भुत ऐश्वर्य एवं अलंकार-विलास है, लक्षणा-व्यंजना का विचित्र चमत्कार है। कल्पना तथा भावना के अपूर्व वैभव के कारण इस शैली में मूर्तिविधान एवं बिम्ब-योजना की अद्भुत समृद्धि मिलती है। कामायनी की भाषा सर्वत्र ही चित्रभाषा एवं प्रतीक भाषा है जिसमें तत्सम तथा सचित्र ससंदर्भ शब्दावली का मुक्त प्रयोग हुआ है। भाषा और अभिव्यंजना के इन असाधारण गुणों के फलस्वरूप कामायनी की शैली सामान्य से सर्वथा भिन्न हो गई है।

शैली की असाधारणता के प्रति आग्रह के कारण ही कामायनी की शैली में इतिवृत्तवर्णन का एकान्त अभाव है। कवि ने अत्यन्त सचेष्ट रूप से मनन, चिन्तन, संवाद, स्वगत, स्वप्न, दृश्य-विधान आदि के द्वारा कथा का विकास किया है। इतिवृत्त शैली के प्रति प्रसाद के मन में एक विचित्र वितृष्णा रही है। कामायनी में कथा का स्तर कल्पना-विलास, दार्शनिक गरिमा और रागात्मक ऐश्वर्य के कारण सामान्य से इतना भिन्न रहा है कि वृत्त-वर्णन की ऋजुता इस समृद्धि का वहन नहीं कर सकती थी।

भारतीय काव्यशास्त्र में, व्यंजना से, महाकाव्य की शैली को नानावर्णन-क्षमा माना गया है। कामायनी की शैली में यह गुण स्पष्टतः विद्यमान है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और उदात्त से उदात्त मनःस्थिति का अंकन करने में पूर्णतः समर्थ है। सुन्दर और विराट्, मधुर और भयानक आदि के वर्णन में उसकी समान गति है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य की शैली के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह विस्तारगर्भा हो, मूर्त, सघन एवं प्रबल हो, उसमें दुर्दम नद-प्रवाह हो। ये गुण वास्तव में ऐहिक कथा-प्रधान महाकाव्यों की शैली में मिलते हैं। कामायनी में भी जहाँ भौतिक घटनाओं की प्रधानता है, इन गुणों का सम्यक् प्रयोग है : जैसे प्रलय-वर्णन, संघर्ष आदि में; मनु के अहंकार आदि की अभिव्यंजना में ओज गुण का भी उचित समावेश है। किन्तु शैली के अधिकांश कलेवर में सघनता आदि गुणों का निर्वाह संभव नहीं हुआ। क्योंकि कथावस्तु अंतर्मुख है, बहिर्मुख नहीं है, इसलिए मूर्त घटनाओं और दृश्यों के संकुल वर्णन से शैली में जो एक प्रकार का सहज घनत्व एवं नद-प्रवाह उत्पन्न हो जाता है वह यहाँ नहीं मिल सकता। इसी अन्तर्मुखता के कारण कामायनी की शैली में प्रगीत तत्त्व स्थान-स्थान पर उभर आता है। सामान्यतः वह महाकाव्य का दोष है, किन्तु यहाँ तो विधान ही अन्तरंग है और घटनाओं की विकासशक्ति मानव

चेतना है, इसलिए प्रगीत तत्त्व यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है।

समग्रतः, कामायनी की शैली निश्चय ही भव्य है। कवि की प्रतिभा ने एक विराट् शून्य को कल्पना और भावना के ऐश्वर्य से जगमग कर दिया है।

निष्कर्ष

कामायनी का महाकाव्यत्व असंदिग्ध है—परम्परा का नितान्त निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था : अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र—दोनों में से किसी एक के भी लक्षणों का पूर्ण निर्वाह खोजना व्यर्थ होगा। फिर भी महाकाव्य के प्रायः सभी महत्त्व कामायनी में स्पष्टतः विद्यमान हैं।—केवल एक ही विपर्यय है, वह है कार्य-व्यापार का अभाव जिसके परिणामस्वरूप कथा में वांछित भौतिक विस्तार नहीं आ सका क्योंकि कामायनी का वस्तु-विकास बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है : वह मानव-चेतना के विकास की कथा है जो मनु के जीवन-विकास के माध्यम से कही गयी है। साधारणीकरण के लिए यहाँ कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है जिसके द्वारा मनु मानव-चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य—ऐहिक जीवन-प्रधान महाकाव्य—की कोटि में कामायनी नहीं आती। वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है, मानव-चेतना का महाकाव्य है—अतः रूपक-तत्त्व जो सामान्यतः महाकाव्य में बाधक होता है, यहाँ साधक बनकर आया है, इसीलिए प्रगीत तत्त्व भी यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव-चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अद्भुत उपलब्धि है। इसी रूप में यह परम्परा से भिन्न है—रूपक और महाकाव्य के समन्वय के कारण—कथा के अन्तर्मुख विकास के कारण।

दीपशिखा की भूमिका

दीपशिखा महादेवी जी की पाँचवीं काव्य-कृति है—इससे पूर्व उनकी चार रचनाएँ क्रमशः 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' नाम से प्रकाशित हो चुकी थीं । नीहार में महादेवी का किशोर कवि एक प्रकार से अपरिचित काव्य-लोक में प्रवेश करता है, अतः वहाँ परिचायक रूप में कवि-सम्राट अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की अत्यन्त संक्षिप्त भूमिका है । रश्मि में दर्शन के अध्ययन के प्रभाव से कवि में थोड़ा आत्म-विश्वास आता है और 'अपनी बात' नाम से एक छोटी-सी भूमिका के दर्शन पहली बार होते हैं, नीरजा का परिचय फिर रायकृष्णदासजी के शब्दों में दिया गया है, किन्तु 'सान्ध्यगीत' के आरम्भ में कवि की अपनी भूमिका है जिसमें स्थिर रूप से काव्य से सम्बद्ध कतिपय मौलिक प्रश्नों का विवेचन किया गया है । दीपशिखा की भूमिका का कलेवर इन सब की अपेक्षा कहीं व्यापक और उसका स्वर कहीं अधिक आश्वस्त है । यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को उत्तेजित कर दिया गया है । इस उत्तेजना की पृष्ठ-भूमि भी स्पष्ट ही है । उन दिनों प्रगतिवाद का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था—और यह जोर रचनात्मक कम, ध्वंसात्मक अधिक था । प्रगतिवाद के पक्षधर आलोचक पूर्ववर्ती काव्य-मूल्यों की भस्म पर नवीन सामाजिक मूल्यों का आरोपण करने के लिए प्रयत्नशील थे और उनका सीधा प्रहार था छायावाद पर, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद का जन्म हो रहा था । कुछ कवि और आलोचक इस कोलाहल में कच्चे पड़ने लग गये थे—छायावाद के प्रबल समर्थक 'प्रगतिवाद को कवि के चारित्र्य की कसौटी' मानने पर आमादा हो गये थे । उस वातावरण में दीपशिखा का और उससे भी अधिक दीपशिखा की भूमिका का प्रकाशन अत्यन्त महत्वपूर्ण और सामयिक घटना थी ।

इस भूमिका में कवयित्री ने काव्य से सम्बद्ध अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं : उदाहरण के लिए—सत्य का स्वरूप, काव्य और सत्य, सौन्दर्य का स्वरूप, काव्य और उपयोगिता, ललित और उपयोगी कलाओं का भेद और उसकी

निरर्थकता, आदर्श एवं यथार्थ की परिभाषा और दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, रहस्यानुभूति और आधुनिक काव्य में उसकी स्थिति, छायावाद और अंत में प्रगतिवाद जिसके लिए इस नवीन और राजनीतिक नामकरण को छोड़ अपेक्षाकृत व्यापक शब्द यथार्थवाद का प्रयोग किया गया है। भूमिका का चतुर्थ एवं अंतिम खंड दीपशिखा की कविता के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है—यहाँ कवि ने गीत की परिभाषा और स्वरूप, गीत के दो प्रमुख भेद—रहस्य-गीत और सगुण-गीत, दीपशिखा में गीत और चित्रकला के योग, इन दोनों के लिए प्रयुक्त प्रकृति के उपकरण आदि पर संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वक्तव्य दिये हैं। इस विवेचन के अन्त में यह भी संकेत किया गया है कि कवि का अपना जीवन एकांत काव्य-साधना का जीवन नहीं है—उसके 'कर्मक्षेत्र की विविधता भी कम सारवती नहीं' है—उसने आज के 'उपेक्षित संसार में भी बहुत कुछ भव्य पाया है अन्यथा सम्य समाज से इतनी दूरी असह्य हो जाती।'।

सत्य मूलतः अखंड अतः असीम है, किन्तु जब वह व्यक्ति की चेतना का विषय बनता है तो उसके लिए एक विशेष सीमा में आना अनिवार्य हो जाता है—इस प्रकार सत्य की यह दोहरी स्थिति सहज स्वाभाविक है : वास्तव में इस दोहरी स्थिति में ही वह हमारे सामने आता है। भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र पृथ्वी के उन दो गोलार्धों के समान हैं जो मिलकर सत्य की इस चेतना को पूर्णता प्रदान करते हैं। व्यक्ति का सत्य राग और बुद्धि के इन दो अर्थवृत्तों से अनिवार्यतः घिरा रहता है।—इनमें राग अथवा अनुभूति की प्रवृत्ति गहराई की ओर है और बुद्धि की विस्तार की ओर ; जीवन का सत्य इन्हीं दोनों में परिवेष्टित रहता है। असीम सत्य को व्यक्ति की सीमित चेतना में प्राप्त करना—अखण्ड को खंड में सिद्ध कर लेना मानव-चेतना के लिए जितना दुष्कर है उतना ही अनिवार्य भी। मानव-चेतना ने सत्य की इस सिद्धि के लिए जितने माध्यमों का अनुसंधान किया है, काव्य या कला उनमें सब से सफल माध्यम है। इसीलिए महादेवी का मत है कि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है। सौन्दर्य बाह्य-रेखाओं और रंगों का सामंजस्य मात्र नहीं है—'सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है।' सौंदर्य वस्तुतः विकास के लिए अपेक्षित जीवन के प्रत्येक स्पर्श का पर्याय है; उसकी परिधि से छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक कुछ भी बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। उसके भीतर बहिर्जगत और अन्तर्जगत दोनों का वैविध्य समंजित है। इस प्रकार महादेवी के अनुसार, उपर्युक्त संदर्भ में, कला सौंदर्य के माध्यम से सत्य की

अभिव्यक्ति का नाम है।

उपयोगी और ललित कलाओं के रूप में कला का वर्गीकरण महादेवी जी को स्वीकार्य नहीं है—इस प्रकार का वर्गीकरण अत्यंत स्थूल है क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से उपयोगिता और लालित्य अथवा सौंदर्य में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। स्थूल-द्रष्टा आलोचकों ने उपयोगिता का अर्थ जीवन की बहिरंग आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित कर सौंदर्य से उसका भेद कर दिया है। किन्तु यह भेद मिथ्या है। उपयोगिता के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असंख्य रूप हो सकते हैं और ये सूक्ष्मतर रूप ही वास्तव में सौंदर्य के पर्याय बन जाते हैं। इसी प्रकार सौंदर्य की भी अपनी विशेष उपयोगिता है जो जीवन की आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, काव्य और ललित कलाओं का उपयोग उस उन्नत रागात्मक भूमिका पर स्थित होता है जो साधारणीकृत होने के कारण सहज रमणीय या सुन्दर होती है। इसी परिप्रेक्ष्य में कवि ने काव्यगत नैतिक मूल्यों की भी व्याख्या की है—काव्य में नैतिकता का अर्थ विधि-निषेध नहीं है। ‘जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्यानुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अन्तर्जगत में ऐसी स्फूर्ति पैदा कर देना जिससे सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे।’ काव्यगत नैतिक मूल्य दूसरे प्रकार के अन्तर्गत ही आते हैं—अर्थात् काव्य के क्षेत्र में नैतिकता उन मूल्यों का नाम है जो जीवन के सामंजस्यपूर्ण विकास में सहायक होते हैं और चूँकि सामंजस्य ही सौन्दर्य का भी आधार तत्त्व है, इसलिए नीतिगत मूल्यों में और सौंदर्यगत मूल्यों में कोई तात्त्विक भेद नहीं रह जाता।

इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्य विषयों का भी महादेवी ने गम्भीर चिन्तन किया है। अनुभूत होने के कारण उनके विचारों में एक विशेष प्रकार की मार्मिकता और विश्वास की दीप्ति आ गई है। इसलिए हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनके अनेक वाक्य सूत्र बनकर प्रचलित हो गये हैं जैसे—‘बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्यसत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।’..... “साधारणतः गीत व्यवितगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।”

प्रस्तुत प्रसंग में महादेवी की इन सभी मान्यताओं की समीक्षा करने का अवकाश नहीं है। इसलिए मैं केवल एक ऐसे प्रश्न को ही लेता हूँ जो अधिक

ज्वलंत है और जिसका महादेवी के काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह है आधुनिक काव्य में रहस्यानुभूति का प्रश्न। बौद्धिकता के इस युग में छायावाद के कवि ने जब अपनी कविताओं में परोक्ष आलंबन के प्रति प्रणय-निवेदन का आग्रह किया तो अनेक आलोचकों ने उसकी अनुभूति की सत्यता पर सन्देह किया। महादेवी ने प्रस्तुत भूमिका में अपने पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं :—
 १—प्रत्येक सामंजस्य अथवा सौन्दर्य की अनुभूति ही अपने मूल में रहस्यानुभूति होती है। २—अपनी अपूर्णताओं को किसी पूर्ण आदर्श की कल्पना में समर्पित करने की लालसा मानव में जन्मजात है। उन्हीं के शब्दों में “स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।” ३—यह आत्मसमर्पण किसी न किसी प्रकार के रागात्मक संबंध की ओर इंगित करता है और रागात्मक संबंधों में भी केवल माधुर्य-भाव के द्वारा ही पूर्ण के साथ अपूर्ण का एकान्त तादात्म्य संभव हो सकता है। इस प्रकार से परोक्ष या रहस्यमय आलंबन के प्रति प्रणय-निवेदन मानव-हृदय की एक सहज प्रवृत्ति और प्रायः एक सहज आवश्यकता भी हो जाती है। ४—प्राचीन काव्य का इतिहास भी इस प्रकार की रहस्यानुभूति को सिद्ध करता है। कवि के अपने शब्दों में ही—“अखंड और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमर्पण संभव है या नहीं—इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही हैं वही पर्याप्त होना चाहिए।”—“प्रकृति के अस्तव्यस्त सौन्दर्य में रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण, प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अंत में रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।”

इसमें सन्देह नहीं कि ये तर्क अपने आप में बड़े प्रबल हैं और वास्तव में आधुनिक बुद्धिजीवी कवि की रहस्यानुभूति के पक्ष में कल्पना और वैदग्ध्य जितने भी उपकरण एकत्र कर सकते थे, वे सब यहाँ उपस्थित हैं। किन्तु हमारा विनम्र निवेदन है कि इन तर्कों में कल्पना की रमणीयता ही अधिक है। इनसे न प्रश्नकर्ता की बुद्धि ही निरुत्तर होती है और न उसका हृदय ही इन पर प्रत्यय कर पाता है। बुद्धि उत्तर देती है कि आपने जो कुछ कहा अर्थात् उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व और उसके प्रति माधुर्य-मूलक आत्म-समर्पण, यह सब तो कल्पना का चमत्कार है। इन सबकी कल्पना पर किसी को आपत्ति नहीं है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के काव्य का मूला-

धार रहस्य-प्रणय की अनुभूति है या उसकी कल्पना ? यदि कल्पना है तब तो वैमत्य का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु यदि रहस्य-प्रणय की अनुभूति का आग्रह है तो वह पूर्वोक्त तर्कों से सिद्ध नहीं होती । अतः छायावादी काव्य में अभिव्यक्त रहस्यानुभूति की व्याख्या के दो मार्ग हैं—एक पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाता है अर्थात् पार्थिव प्रणय-भावना के उन्नयन की ओर इंगित करता है और दूसरा, जैसा कि महादेवीजी मानती हैं, अपार्थिव रहस्यानुभूति को लौकिक प्रणय-प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करता है अर्थात् अपार्थिव से पार्थिव की ओर आता है । महादेवी जी की मान्यता को स्वीकार कर लेने से एक बड़ा अहित यह होता है कि छायावाद की, विशेषकर उनके काव्य की, प्रेरक शक्ति 'अनुभूति' न होकर 'अनुभूति की कल्पना' मात्र रह जाती है और प्रकारान्तर से छायावाद का समर्थक उसके आलोचकों के आक्षेप के सामने सिर झुका देता है ।

किन्तु, यह तो एक प्रसंग मात्र है और इसके विषय में भी अंतिम निर्णय देना संभव नहीं । हिन्दी आलोचना के विकास में इस भूमिका का महत्त्व अक्षय है । इससे छायावादी काव्य-दृष्टि अनाविल हुई, उसके सम्बन्ध में प्रचारित अनेक भ्रांतियों का निराकरण हुआ, शास्वत काव्य-मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा हुई और हिन्दी में सौष्ठववादी आलोचना का पथ प्रशस्त हुआ ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य

हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी कि देश की संविधान सभा ने उसे राज-भाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतन्त्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारिणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनीति के वात्याचक्र में फँस गयी। हिन्दी का मंच राजनीतिक नेताओं से इतनी बुरी तरह घिर गया कि साहित्यकार के लिए उस पर बैठने की जगह भी नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्यकार की चेतना दो भिन्न, प्रायः विरोधी, सरणियों में विभक्त हो गई। सबसे पहले तो उसे भाषा की समस्या से उलझना पड़ा। फिर साहित्य की समृद्धि का प्रश्न सामने आया। व्यापक अर्थ में साहित्य के दो अंग हैं : एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र से अभिप्रेत है ज्ञान-व्यवहार का साहित्य और काव्य रस के साहित्य का वाचक है। इस तरह स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी साहित्यकार के सामने तीन मौलिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं, जो बाह्य रूप में सम्बद्ध होती हुई भी तत्त्व रूप में भिन्न थीं : (१) भाषा की, (२) व्यावहारिक साहित्य की, और (३) काव्य अथवा रस के साहित्य की।

सन् १९४७ से लेकर सन् १९६१ तक, इन चौदह वर्षों में, हिन्दी-साहित्य के विकास की ये तीन रेखाएँ हैं, जिन्हें आधार मानकर उसकी उपलब्धियों का सिंहावलोकन किया जा सकता है।

भारत की राजभाषा होते ही हिन्दी-भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है, जिससे अनेक महारथी जूझ गये और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति वही भयमिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति को योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे बरस्य हैं। किन्तु भाषा का एक साहित्यिक पक्ष भी है और वह हमारा अपना दायित्व है। यों तो (रामप्रसाद निरंजनी से लेकर हमारी अपनी पीढ़ी के हिन्दी-लेखकों तक हिन्दी-भाषा की शक्तियों का समुचित

विकास हो चुका था—महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसको स्थिर रूप दिया, पद्मसिंह शर्मा ने उसे गोष्ठी-मंडन बनाया, प्रेमचन्द ने उसकी व्यावहारिक शक्ति का विकास किया, रामचन्द्र शुक्ल ने गम्भीर विवेचन के माध्यम रूप में उसका परिपाक किया, पन्त ने उसको सूक्ष्म सौन्दर्य-विवृतियों के उद्घाटन की क्षमता दी, और सन् १९४७ में आधुनिक हिन्दी एक प्रौढ़ परिपक्व भाषा के रूप में विद्यमान थी) परन्तु (राजभाषा बनते ही उसके सामने अनायास ही अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और काव्य-साहित्य के दायित्व को विश्वास के साथ निबाहने वाली भाषा नवीन दायित्वों के भार से जैसे कुछ समय के लिए काँप गई। किन्तु आधार पुष्ट था—और डा० रघुवीर जैसे मेधावी आचार्यों ने उसका पूर्ण उपयोग कर हिन्दी की अन्तर्भूत शक्ति का सम्यक् विकास आरम्भ कर दिया। डा० रघुवीर के आगे-पीछे और भी शब्दकार इस दिशा में बढ़े—जैसे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और हिन्दी के वयोवृद्ध कोशकार बाबू रामचन्द्र वर्मा आदि। आरम्भ में आचार्य रघुवीर का बड़ा विरोध हुआ। पहली बार जब मैंने संविधान-अनुवाद-समिति में उनके साथ कार्य आरम्भ किया तो मुझको भी उनके शब्द और शब्दों से भी अधिक उनकी असहिष्णु पद्धति सर्वथा अग्राह्य प्रतीत हुई। किन्तु जैसे-जैसे हम शब्दों की आत्मा में प्रवेश करते गये, वैसे-वैसे मुझे यह विश्वास होने लगा कि अपने समस्त गुण-दोषों के रहते हुए भी उनका मार्ग ही ठीक है। वास्तव में आचार्य रघुवीर के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। उनका प्रमुख दोष यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य की आन्तरिक प्रकृति से उनका सहज सम्बन्ध नहीं है और दूसरे वे शब्दकार हैं, शैलीकार नहीं। किन्तु फिर भी अपने क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। उनके साधन और उपकरण अत्यन्त समृद्ध हैं। संस्कृत भाषा की निर्माण-क्षमता को उन्होंने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है और पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में उनको शब्द-निर्माण कला का अद्भुत अभ्यास हो गया है। उनकी एक प्रत्यक्ष उपलब्धि तो यही है कि उन्होंने अकेले व्यक्ति ने लक्षावधि शब्दों का निर्माण कर दिया है। किन्तु इससे भी बड़ी उपलब्धि उनकी यह है कि उन्होंने शब्द-निर्माण के मूल सिद्धान्त का आविष्कार, या कम से कम अत्यन्त सफल प्रयोग, किया है। उनका प्रायः सभी दिशाओं से विरोध हुआ किन्तु अन्त में अब उन्हीं की पद्धति का अवलम्बन किया जा रहा है। जो नहीं कर रहे हैं वे 'बिचबिन्दी' और 'खोली' जैसे शब्दों का निर्माण कर इस सम्य देश की राष्ट्रभाषा का अपमान कर रहे हैं।

(डा० रघुवीर के बाद शिक्षा मंत्रालय ने यह कार्य अपने हाथ में लिया।

मंत्रालय के तत्त्वावधान में अनेक भाषाविज्ञों और विभिन्न शास्त्रीय विषयों के आचार्यों की सहायता से विपुल संख्या में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है और अब उनके आधार पर पारिभाषिक कोश का पहला भाग मुद्रण के लिए तैयार हो रहा है। यह शब्दावली स्वभावतः अधिक व्यापक है। एक तो इसकी रचना में अनेक प्रतिनिधि विद्वानों का हाथ है और दूसरे केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की स्वीकृति इसे प्राप्त है, इसलिए इसका प्रचार और प्रसार बढ़ रहा है। इसी बीच में कुछ सुलभ कोश भी प्रकाशित हो चुके हैं—जैसे डा० हरदेव बाहरी का अंग्रेजी-हिन्दी कोश और श्री रघुराज गुप्त का 'समाज-शास्त्र-मानवशास्त्र-पर्याय कोश'। इस विषय में श्री नरवरो द्वारा सम्पादित 'व्यवहार कोश' भी उल्लेखनीय है, जिसमें सभी भारतीय भाषाओं के पर्याय एकत्र मिलते हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी भाषा की शब्द-शक्ति का निश्चय ही तीनों रूपों में विकास हुआ है : (१) विपुल संख्या में नवीन शब्द उपलब्ध हुए हैं, (२) शब्दों के रूप स्थिर हुए हैं और हो रहे हैं, (३) हमारी भाषा ने अर्थगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को अभिव्यक्त करने की क्षमता का अर्जन किया है। भाषा में आनुगुणत्व की जो शक्ति आज है वह सन् १९४७ से पूर्व नहीं थी। किन्तु चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। हमारे अनेक साहित्यकारों को यह शंका है कि संस्कृत का वर्द्धमान प्रभाव हिन्दी के स्वरूप का ग्रास करता जा रहा है। मैं इस शंका को सर्वथा निर्मूल नहीं मानता, किन्तु फिर भी मैं विशेष चिन्तित नहीं हूँ क्योंकि इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक है। भाषा की गरिमा, चित्रात्मकता और व्यञ्जना शक्ति का जितना विस्तार संस्कृत के आधार पर हो सकता है उतना इधर-उधर से बिना किसी नियम अथवा क्रम के गिने-चुने शब्दों से नहीं हो सकता। इस विकासशील भाषा के विरुद्ध एक आक्षेप और भी है जो वास्तव में उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता और वह यह कि इस प्रकार क्या हम वास्तव में एक अनुवाद-भाषा का विकास नहीं कर रहे? आज जिन नवनिर्मित शब्दों से हिन्दी का भाण्डार समृद्ध हुआ है वे सभी अनूदित शब्द हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह विकास स्वाभाविक माना जा सकता है? यह शंका मेरे मन में भी बार-बार उठती है किंतु इसका समाधान भी दूर नहीं है और वह यह है कि कोई भी प्राणवती भाषा अनुवाद की भाषा नहीं रह सकती। जो अनूदित शब्द आज आ गये हैं वे शीघ्र ही समर्थ लेखकों की अभिव्यंजन-प्रक्रिया में पड़कर भाषा में ही अभिन्न रूप से घुल-मिल जायेंगे। (जिस महानु देश की संस्कृति एक के बाद एक विदेशी जाति के संस्कारों को आत्मसात् करती चली गई उसकी भाषा को कुछ नई शब्द-छायाओं को पचाने में कितनी देर लगेगी ?)

भाषा के उपरांत राजनीतिक दृष्टि से दूसरा प्रश्न सामने आया व्यवहार के साहित्य का। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिंदी का यह अंग निश्चय ही अविकसित था और अब भी है। कारण यह था कि इसके विकास का अवसर ही नहीं मिला। शासन और शिक्षा दोनों का माध्यम अंग्रेजी थी और इस प्रकार का समस्त ज्ञान-साहित्य उसी में प्रस्तुत होता रहा। किंतु स्वतंत्र राष्ट्र के सामने जब शासन तथा शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न आया तो आवश्यक साहित्य की मांग होने लगी। पिछले चौदह वर्षों में स्थिति में निश्चय ही सुधार हुआ है। भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनेक ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है और कुछ वर्ष पूर्व शिक्षा मंत्रालय द्वारा आयोजित एक सर्वभाषा वैज्ञानिक-ग्रंथ-प्रदर्शनी से यह सिद्ध हो चुका है इन विषयों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस संदर्भ में सबसे बड़ी उपलब्धि है नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी विश्वकोश, भाग १। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की हिंदी-समिति तथा बिहार की राष्ट्र-भाषा-परिषद् के भी अनेक प्रकाशन अपने ढंग से उपयोगी हैं। फिर भी अभाव तो मिटा नहीं है। वास्तव में हिंदी का यह अभाव इतना बड़ा है कि इसके लिए नियमित रूप से बड़े पैमाने पर—प्रायः युद्ध-स्तर पर—प्रयत्न अनिवार्य है। यह बड़े ही खेद का विषय है कि अभी तक आलोचना ही अधिक हो रही है और निर्माण-कार्य की गति अत्यंत मंथर है। वैसे तो केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारों ने इस विषय में योजनाएँ बनाई हैं और थोड़ा-बहुत कार्य भी हो रहा है परन्तु आवश्यकता को देखते हुए पूर्ति नगण्य सी-ही है। इस अप्रगति के अनेक कारण हैं। एक तो कारण यही है कि अभी अधिकांश क्षेत्रों में अंग्रेजी का ही प्रयोग चल रहा है और हिन्दी-लेखकों के लिए कोई प्रेरणा नहीं है। दूसरे, इन विषयों में हिन्दी के समर्थ लेखक भी अनेक नहीं हैं। तीसरे, शासन और शिक्षा दोनों ही में देश के दुर्भाग्य से प्रमुख स्थान ऐसे व्यक्तियों के अधिकार में हैं जिनका हिन्दी-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इनमें से सभी हिन्दी के विरोधी नहीं हैं। अनेक के मन में हिन्दी के प्रति वास्तविक ममत्व है किन्तु प्रश्न तो वर्तमान परिस्थिति का है। चौथे, इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं है जिनके मन में स्वार्थ-वश, और कदाचित् सिद्धान्तवश भी, हिन्दी के प्रति विद्वेष की भावना है। इन व्यक्तियों ने कुतर्कणा का एक चक्रव्यूह-सा रच दिया है और उसकी आड़ में अपनी हित-रक्षा करना चाहते हैं—हिन्दी में अभीष्ट ग्रंथों का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एवं शासन का माध्यम नहीं बन सकती और जब तक हिन्दी का उपयोग इन क्षेत्रों में नहीं होगा तब तक अभीष्ट ग्रंथों का अभाव बना

रहेगा। यह स्थिति वास्तव में चिन्त्य है परन्तु हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित से अधिक बलिष्ठ है और काल के दुर्दम प्रवाह को विपरीत दिशा में मोड़ा नहीं जा सकता। इस दिशा में तुरन्त ही कार्यवाही होनी चाहिए और यह कार्य बेगार में पकड़े हुए कुछ विद्वानों की सहायता से प्रकीर्ण प्रयत्नों द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक बृहद् राष्ट्रीय ज्ञान-परिषद् की स्थापना अनिवार्य है।

अब रह जाता है सर्जनात्मक साहित्य—अथवा रस का साहित्य। साहित्य का यह अंग प्रकृति से थोड़ा अदम्य होता है—वह न राजनीति का आदेश मानता है और न योजनाओं में ही परिवर्द्ध हो सकता है। पर रसचेता कलाकार भी अपनी परिस्थिति से सर्वथा निरपेक्ष तो नहीं हो सकता—और फिर स्वतन्त्रता तथा विभाजन की परिस्थितियाँ तो असाधारण थीं। सन् १९४७ के उपरान्त देश में अनेक घटनाएँ ऐसी घटीं जिनका किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। सबसे पहले स्वतन्त्रता-प्राप्ति की घटना ही एक भव्य घटना थी—देश के इतिहास में ऐसी घटना शताब्दियों बाद घटी थी। भारत के कवि-कलाकार की युग-युग से अपमानित अन्तरात्मा ने मुक्ति की साँस ली। उसके मन में एक अभूतपूर्व आत्म-विश्वास जगा। विश्व-कल्याण के जिन स्वप्नों को वह गाँधी के और गाँधी के पूर्वज ऋषियों के मंत्र-बल से दासता की अभिशप्त रात्रि में भी सँजोता रहा था, उनको पहली बार सार्थक करने का अवसर आया। भारत के संस्कृत हृदय ने बिना अहंकार के, बिना किसी गर्व अथवा औद्धत्य के अपनी मुक्ति को अखिल विश्व की मुक्ति का प्रतीक माना। भारत के राजनीतिज्ञों ने और कवियों ने एक स्वर से यह उद्घोष किया :

भारत स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र सभी जब हों !

जैसे-जैसे समय बीतता गया, भारतवर्ष की विश्व-मैत्री की नीति अधिक स्पष्ट और भास्वर होती गई। इसका हमारे काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वास्तव में इस नीति की मूल चेतना ही काव्यात्मक है और इसका विकास कूटनीतिज्ञों की मंत्रणाओं के आधार पर नहीं हुआ, रवीन्द्र और उनके अग्रज एवं अनुज कवियों की आस वाणी के प्रभाव से ही हुआ है। उपनिषद् से लेकर छायावाद तक की भारतीय काव्य-परम्परा का पवित्र सम्बल उसे प्राप्त है। हिन्दी में इस विषय पर अनेक कवियों ने अनेक रचनाएँ कीं और उनमें से अधिकांश का काव्यगुण नगण्य नहीं है। फिर भी इनमें सबसे प्रबल स्वर पन्त, सियारामशरण,

नवीन और दिनकर का ही रहा। पन्त और सियारामशरण में जहाँ देश की मुक्त आत्मा का पवित्र उल्लास है, वहाँ नवीन और दिनकर में उसका सात्त्विक भोज है।

किन्तु स्वतन्त्रता का यह वरदान विभाजन के अभिशाप के साथ-साथ आया। मुक्त आकाश में अरुणोदय हुआ ही था कि गृह-कलह के बादल घिर आये। परतन्त्र राष्ट्र के उपचेतन की संचित विकृतियाँ अनायास ही उभर आईं और समस्त देश का वातावरण पाशव शक्तियों के अट्टहास से गूँज उठा। यह मानव-चेतना की घोरतम विफलता के दिन थे, किन्तु साहित्य में इसका प्रभाव सर्वथा नगण्य ही रहा। भारतीय साहित्य के पर्यवेक्षक का हृदय यह देखकर सदा ही एक मधुर गर्व से उत्फुल्ल हो उठेगा कि हिन्दी के एक भी उत्तरदायी साहित्यकार ने साम्प्रदायिक विक्षेप को प्रश्रय नहीं दिया। इस घटना से प्रेरित जो साहित्य आज उपलब्ध है—उसमें तत्कालीन विक्षिप्त पशुता में मानव की शुद्ध-बुद्ध आत्मा का ही अनुसन्धान अनिवार्य रूप से मिलता है। इस प्रकार का साहित्य परिमाण में अधिक नहीं रचा गया। भारत-विभाजन और उसकी अनुवर्ती विभीषिकाओं की प्रतिध्वनि थोड़ी-सी कहानियों, कुछेक एकांकियों और मुश्किल से दो-चार उपन्यासों में ही मिलती है। हिन्दी के अधिकांश समर्थ कलाकारों ने तो अपनी इस लज्जा को छिपाने का ही प्रयत्न किया है।

इस नर-मेघ की पूर्णाहुति हुई राष्ट्रपिता गांधी के बलिदान से। गांधी का यह बलिदान देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक विराट् घटना थी। रवीन्द्रनाथ ने महाकाव्य के विषय में लिखा है—“इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार पा जाता है, मनुष्य-चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परमपुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है, और उसका शिखर मेघों को भेदकर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देव-भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशों से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।”

इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास में गांधी से अधिक न तो कोई महाकाव्योचित चरित्र-नायक ही जन्मा है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित घटना ही घटी है।

गांधीजी के जीवन-मरण को लेकर हिन्दी में अनेक कविताएँ लिखी गईं। प्रमुख कवियों में पंत, मियारामशरण गुप्त, नवीन, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र और सुमन आदि ने व्यवस्थित रूप से रचनाएँ की हैं। उनके बलिदान से प्रेरित होकर भी प्रायः इन्हीं कवियों ने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। परन्तु इनमें से अधिकांश कविताएँ विषय की गरिमा के उपयुक्त नहीं बन सकीं। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रकृत भाव और काव्यगत भाव में भेद किया गया है और हमारे आचार्यों ने बड़े मार्मिक ढंग से यह स्पष्ट किया है कि जीवनगत अनुभूतियाँ अपने प्रकृत रूप में नहीं वरन् संस्कार रूप में ही काव्य का विषय बन सकती है। प्रकृत रूप में उनका ऐन्द्रिय तत्त्व रसात्मक निबन्धन में बाधक होता है। गांधी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नहीं हो सका क्योंकि उसका घाव अभी तक हरा है और आज के कवि के लिए, जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है, अभी वह संस्कार नहीं बन पाया—सम्भव है वर्षों तक बन भी न पाए। इसलिए गांधी महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा जबकि गांधीजी के जीवन-मरण से सम्बद्ध हमारी युगानुभूति प्रकृत अनुभूति न रहकर संस्कार बन जाएगी।

प्रस्तुत कालावधि में काव्य के दो और प्रमुख विषय हमारे सामने आए : (१) भारतवर्ष की सफल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-नीति, (२) सन्त विनोबा का भूदान-आन्दोलन। तत्त्व रूप में इस देश के कवि के लिए ये कोई नये विषय नहीं हैं। नेहरू की शान्ति-नीति गांधी की अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यंजना है और विनोबा का भूदान यज्ञ उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति। काव्य-शास्त्र के शब्दों में तीनों का स्थायी भाव एक ही है। नवीन जी तथा श्री सियारामशरण आदि ने इस विषय को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

ऊपर जिन काव्य-विषयों का उल्लेख किया गया है वे मूलतः एक ही प्रवृत्ति के अंग हैं—और यह प्रवृत्ति वही है जिसे हमने अपनी 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' पुस्तक में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। यह काव्य-प्रवृत्ति वस्तुतः नई नहीं हैं वरन् स्वतन्त्रता से बहुत पहले से ही हमारे साहित्य में इसका अस्तित्व रहा है। स्वतंत्रता के उपरांत इसके रूप में परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु मूल तत्त्व वे ही रहे हैं। एक तो परतंत्र देश की वह अवरुद्ध हुंकार आज इसमें नहीं रही, उसका स्थान स्वतंत्र राष्ट्र के आत्म-विश्वास ने ले लिया है। दूसरे, अपने राजनीतिक संघर्ष का सफल अन्त हो जाने से अहिंसा में उसकी आस्था अत्यंत दृढ़ हो गई है। तीसरे,

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी शांति-नीति के निरन्तर सफल होते जाने से विश्व-बन्धुत्व के भावादश वस्तु-सत्य में परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार संदेह, असहयोग, प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के आस्तिक मूल्यों का पोषण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के तामसिक गुण प्रायः निःशेष हो गये हैं और शुद्ध सात्विक उत्साह-उल्लास की परिवृद्धि हुई है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्त्व पृथक् न रहकर बहुत-कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ ही घुल-मिल गये हैं। वर्तमान हिन्दी कविता की सर्वप्रमुख धारा यही है। वास्तव में स्वतंत्रता-पूर्व युग की तीन प्रवृत्तियाँ—ओज और उत्साह से अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रवृत्ति, सत्य-चिंतन से अनुप्राणित सांस्कृतिक प्रवृत्ति और सौंदर्य-भावना से स्फूर्त छायावादी प्रवृत्ति इस त्रिवेणी में मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अंतश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नहीं तो कल कोई समर्थ कवि अपनी अमृतवाणी में इसका उद्गीथ करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक ऐसा कविवर्ग है जो अभीष्ट संस्कारों के अभाव में परम्परा से पोषित आस्तिक मूल्यों को ग्रहण करने में असमर्थ है। निदान वह जीवन के उपर्युक्त सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध 'प्रगति' अथवा 'प्रयोग' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ग पिछड़ा नहीं है, और अपने ढंग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। १९४७ से पूर्व जो प्रगतिवादी थे उनमें से संस्कारशील कवियों ने सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार कर लिया है, किन्तु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नहीं कर पाई, वे या तो कभी-कभी देश के आर्थिक विधान के विरुद्ध बड़बड़ाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुण्ठाओं को काव्य में मूर्त करने का सफल-असफल प्रयत्न करते हैं। मेरे आस्तिक संस्कार इस प्रकार की कविता से कभी सन्धि नहीं कर सके—किंतु फिर भी वस्तु-चिंतन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रवृत्ति केवल बौद्धिक विकृति मात्र नहीं है, अथवा यदि केवल बौद्धिक विकृति है भी तब भी, आज के जीवन में अस्वाभाविक नहीं है। आज का बुद्धिजीवी युवक आस्तिक नहीं है। वर्तमान उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परितोष नहीं कर रहा, वह अनुभव करता है कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नहीं मिल रहा—और वह क्षुब्ध है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नहीं हो पाई कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम से कम विकास-प्रयत्नों से प्रेरणा ग्रहण कर सके, संस्कार उसके इतने आस्तिक नहीं रह गये कि भावी की स्वस्थ कल्पना उसे परितोष

दे फके। अन्त में रह जाता है वह स्वयं और आधुनिक अतिवादों द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुण्ठित मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह-तरह के खेल खेले लगता है। आज की प्रयोगवादी कविता की यही अन्तरंग व्याख्या है। यह काव्य-प्रवृत्ति आज के जीवन में अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु फिर भी, सत्य भी नहीं है, क्योंकि यह नास्ति पर आधृत है अस्ति पर नहीं।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की उपलब्धियाँ भी महत्त्वहीन नहीं हैं। हिन्दी-उपन्यास काफ़ी सक्रिय रहा है : यद्यपि आज हिन्दी-उपन्यास की अधिकांश प्रवृत्तियों में प्रायः स्वतन्त्रता-पूर्व युग की विस्तृति ही मिलती है, फिर भी कलात्मक स्तर का उचित संरक्षण हुआ है। प्रेमचन्द की सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास-परम्परा में अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' तथा 'सुहाग के सूपुर' का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। इस वर्ग के अन्य ख्यातिलब्ध उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अशक ने गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र में अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी' और जैनेन्द्र की 'सुखदा' तथा 'जयवर्धन' आदि रचनाएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं, यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि इनमें से कोई भी कृति अपने रचयिता की पूर्व-उपलब्धियों से श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल की सफलता अधिक स्पृहणीय है। वर्मा जी की 'भांसी की रानी' और 'मृगनयनी' दोनों ही श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हैं—हिन्दी में अपने वर्ग की वे अन्यतम विभूतियाँ हैं। और उधर यशपाल-कृत 'भूठा सच' भी अपने महाकाव्योचित आयाम तथा गरिमा के कारण प्रगतिवादी उपन्यासों में निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उपन्यास के एक नवीन रूप का भी आविर्भाव हुआ है और वह है 'आंचलिक उपन्यास'।—इय संदर्भ में रेणु ने 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा एक नवीन दिशा में सफल प्रयोग किये हैं, यद्यपि अभी इन्हें प्रयोग से आगे सिद्धि मानना जल्दबाजी होगी ✓

हिन्दी नाटक अब रंगमंच के अधिक निकट आ गया है और कुछ ऐसी नई प्रतिभाएँ उभरकर सामने आ रही हैं जिनका अपने अग्रवर्ती नाटककारों—लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि की अपेक्षा रंगमंच की विकासशील कला से अधिक घनिष्ठ एव जीवित सम्पर्क है। इस युग में सर्वाधिक विकास हुआ है आलोचना का। इसमें सदेह नहीं कि आचार्य शुक्ल की जैसी मेधा का वरदान आज उसे प्राप्त नहीं है, किन्तु उनकी स्वस्थ परम्पराओं का पिछले १३-१४ वर्षों में समुचित विकास हुआ है और अब भी

हो रहा है। इनके अतिरिक्त समाजविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र की नवीन पद्धतियों के सम्यक् उपयोग से नवीन आलोचना-प्रणालियों का भी आविर्भाव हुआ है। इधर भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का आख्यान-पुनराख्यान भी द्रुत गति से चल रहा है, स्वदेश-विदेश के प्रायः सभी आचार्यों के शास्त्र-ग्रन्थ हिन्दी में सुलभ हैं और हिन्दी का काव्यशास्त्र आज भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक समृद्ध है। नवीन शोध के परिणाम-स्वरूप प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आई है और हिन्दी के सिद्ध लेखक नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' में उसका उचित उपयोग कर रहे हैं। यह इतिहास स्वयं अपने आप में एक महान् अनुष्ठान है—इसके तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और चौदह पर कार्य हो रहा है। पूरा हो जाने पर लगभग दस हजार पृष्ठ का यह महाग्रंथ विश्व का कदाचित् सबसे बड़ा साहित्यिक इतिहास होगा जिसे असंख्य 'पुस्तक-कीट' एकत्र होकर भी काटने में असमर्थ रहेंगे। भाषाविज्ञान की प्रगति भी उपेक्षणीय नहीं है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के निकट सम्पर्क के फलस्वरूप तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए व्यापक क्षेत्र मिल गया है और भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षणों के द्वारा देश की अनेक बोलियों के अध्ययन की विस्तृत योजनाओं पर कार्य हो रहा है।

अंत में, हमारा निष्कर्ष यह है कि स्वाधीन भारत में हिन्दी की प्रगति के दोनों ही पहलू हैं। ज्ञान के साहित्य में जहाँ अभूतपूर्व उन्नति हुई है, वहाँ रस के साहित्य की सिद्धि अधिक से अधिक संतोष-प्रद ही कही जा सकती है—उस पर गर्व करने का कोई विशेष कारण नहीं है। परन्तु यह तो उपलब्धि का समय वास्तव में है भी नहीं—यह तो निर्माण-काल है, वरन् यह कहना चाहिए कि निर्माण का भी आरम्भ काल है। निर्माण और सृजन दोनों में बाह्य समानता होने पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहाँ योजनाबद्ध, विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न-साध्य कर्म है, वहाँ सृजन अंतस्फूर्त, अयत्न-साध्य क्रिया है जो न योजना में बाँधी जा सकती है और न हानि-लाभ के विवेक से नियन्त्रित हो सकती है। हिन्दी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओं में संलग्न है जिनके परिणाम अपेक्षित अवधि के उपरांत ही उपलब्ध होंगे। अतएव आज की उपलब्धि का मूल्यांकन परिणाम के आधार पर नहीं, हमारे प्रयत्नों के आधार पर होना चाहिए।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी-आलोचना के साथ मेरा सक्रिया सम्बन्ध रहा है। उस पर वार्त्ता करने के लिए आमन्त्रण देना मेरे साथ वैसा ही अन्याय है जैसा अभिनेता से दर्शक की तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा करना। और, फिर मुझे तो छद्मनाम की सुविधा भी प्राप्त नहीं है।

१९४७ के बाद का युग सृजन की अपेक्षा निर्माण का ही युग अधिक है। यह बात मैं कई बार कह चुका हूँ। आलोचना सर्जना है या रचना इस विषय में आलोचना के शैशव-काल में बड़ा विवाद रहा। मुझे याद है कि हमारे किसी परीक्षा-पत्र में एक प्रश्न यह था कि आलोचना कला है या विज्ञान। मुझे याद नहीं कि उस समय मैंने इसका क्या उत्तर दिया था परन्तु इस समय सहज ही एक समाधान मेरे मन में आया है—आलोचना कला का विज्ञान है। भारतीय शब्द साहित्य-विद्या या साहित्य-शास्त्र का ठीक यही अर्थ है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि (सर्जनात्मक साहित्य का अंग होते हुए भी आलोचना उस अर्थ में कला नहीं हो सकती जिस अर्थ में कविता, नाटक या उपन्यास। रस-सृष्टि के लिए आवश्यक चित्त की समाहिति तो यहाँ भी अनिवार्य है किन्तु वह केवल परिणति की अवस्था है। प्रक्रिया में तो भावना और कल्पना की अपेक्षा चेतन मन का विवेक ही अधिक प्रबुद्ध रहता है। फिर भी सफल आलोचना का उद्भव रस में से होता है और उसका निलय भी रस में ही होना चाहिए अर्थात् जब तक आलोचक आलोच्य से रसाद्रा होकर अपनी विवेचना का आरम्भ नहीं करता और जब तक उसकी विवेचना सहृदय पाठक के मन में आलोच्य के प्रति रसोद्बोध नहीं करती तब तक वह सफल नहीं हो सकता।) इस दृष्टि से (प्रेरणा और सिद्धि की अवस्था में कला होते हुए भी अपनी साधनावस्था में आलोचना निश्चय ही शास्त्र है—दूसरे शब्दों में उसमें सृजन के साथ निर्माण का भी बहुत बड़ा योग है। इसीलिए निर्माण के इस दशाब्द में हिन्दी आलोचना और अंगों की अपेक्षा अधिक सक्रिय रही है।

—सन् ४७ के बाद की हिन्दी आलोचना सामान्यतः शुक्लोत्तर आलोचना का विस्तार है—शुक्लजी के बाद हिन्दी में आलोचना की अनेक प्रवृत्तियाँ उभरकर आईं। (१) शास्त्रीय आलोचना जिसे शुक्लजी से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त थी, (२) सौष्ठववादी आलोचना जिसने शुक्लजी द्वारा प्रभावित होने पर भी जीवन के आनन्दवादी मूल्यों और स्वच्छन्द दृष्टिकोण को अधिक आग्रह के साथ ग्रहण किया, (३) मनोवैज्ञानिक आलोचना जो साहित्य को व्यक्तिगत प्रक्रिया मानकर कवि-मानस के विश्लेषण द्वारा कृति का विवेचन करती थी, (४) समाजशास्त्रीय आलोचना जो समाजवादी जीवन-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर सामाजिक चेतना के विकास को साहित्य का लक्ष्य मानती थी, (५) ऐतिहासिक आलोचना जो सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश में साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करती थी, (६) सैद्धान्तिक आलोचना जिसका साध्य था भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन, और (७) शोधपरक आलोचना जिसके अंतर्गत हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन साहित्य की तथ्य-परक एवं तत्त्व-परक शोध हो रही थी।

स्वतन्त्रता के उपरान्त ये सभी प्रवृत्तियाँ समान रूप से सक्रिय नहीं रह सकीं। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत विशेष कार्य नहीं हुआ। केवल एक शोध-ग्रन्थ 'आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' हमारे सामने आया। इसके लेखक डा० देवराज उपाध्याय हिन्दी के परिचित सुलेखक हैं। उन्होंने अतिवादों को बचाते हुए काफी सुथरे ढंग से हिन्दी के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मनोविज्ञान की शब्दावली में लेखक ने गेस्टाल्ट पद्धति का अवलम्बन किया है जिसमें शाखाओं की अपेक्षा मूल का ग्रहण रहता है अर्थात् व्यक्तित्व का खंडशः नहीं वरन् समग्र रूप में विश्लेषण रहता है। डा० देवराज की दृष्टि सर्वथा निर्भ्रान्त तो नहीं कही जा सकती—कहीं-कहीं उन्होंने सिद्धान्तों का मिथ्यारोपण भी कर दिया है और अनेक स्थलों पर पाश्चात्य कथा-साहित्य का उल्लेख आवश्यकता से अधिक हो गया है। फिर भी हिन्दी में नियमित रूप से मनोवैज्ञानिक आलोचना का यह अच्छा ग्रन्थ है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र का अवलम्ब ग्रहण करने वाले लेखकों में श्री इलाचन्द्र की कृति 'देखा-परखा' उल्लेखनीय है। इलाचन्द्रजी के विश्लेषण में पर्याप्त गहनता रहती है और वे पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर, प्रबल शब्दों में अपना मत अभिव्यक्त कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में अंतर्प्रवेश की क्षमता जितनी है, उतनी स्वच्छता नहीं है—स्रष्टा कलाकार की ताजगी जितनी रहती है, आलोचक का बौद्धिक अनुशासन उतना नहीं रहता। इस वर्ग के अन्य आलोचक

श्री अज्ञेय अपने में इतने डूब गए हैं कि उनके नवीन आलोचनात्मक लेखों में विषय का वस्तुगत विवेचन नहीं मिलता वरन् उनके अपने मन की जटिल क्रिया-प्रतिक्रियाओं का आलेखन मात्र ही होता है। सब मिलाकर आलोचना की इस उपयोगी प्रणाली का जैसा विकास होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह कि (हिन्दी में मनोविज्ञान का व्युत्पन्न लेखक नई धारा प्रयोगवाद की ओर मुड़ गया है) प्रयोगवाद में व्यक्ति-तत्त्व का अतिशय प्राधान्य है और स्वभावतः मनोविज्ञान का सम्बल उसके लिए अनिवार्य है। प्रयोगवाद के कतिपय नवीन लेखकों के पास अंतर्मन में प्रवेश करने की क्षमता असंदिग्ध है परन्तु अपने साहित्यिक पूर्वाग्रहों के कारण वे लेखक स्वस्थ-संतुलित दृष्टि से मानव मन का समग्र रूप में विश्लेषण करने के स्थान पर उसकी निबिड़ताओं में उलझने का प्रयत्न अधिक करते हैं। अतिव्यक्तिवादी होने के कारण यह साहित्य मूल को छोड़कर शाखाओं पर ही केन्द्रस्थ हो जाता है—पूर्ण व्यक्तित्व की उपेक्षा कर उसकी खण्ड-प्रवृत्तियों में ही खो जाता है। परिणामतः इस नई आलोचना में प्रतिभा के ज्योतिस्पर्श तो प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं किन्तु किसी समग्र जीवन-दर्शन और उस पर आश्रित साहित्य-दर्शन के अभाव में यह आलोचना साहित्य का खण्ड-विश्लेषण ही प्रस्तुत कर पाती है। श्री नलिन विलोचन शर्मा, डा० धर्मवीर भारती, श्री गिरिजाकुमार माथुर, डा० रघुवंश आदि के आलोचनात्मक लेखों में उपर्युक्त गुण और दोष स्पष्ट रूप से मिल सकते हैं। (इस नए साहित्य के साथ विदेश के एक नवीन जीवन-दर्शन अस्तित्ववाद का नाम भी जाने-अनजाने सम्बद्ध किया जा रहा है)। अस्तित्ववाद के सबसे समर्थ प्रतिपादक हैं फ्रांसीसी विचारक सार्त्र जिन्होंने किर्केगार्ड से प्रेरणा प्राप्त कर इस शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में इस नवीन जीवन-दर्शन को दर्शन और साहित्य दोनों के क्षेत्र में प्रतिफलित किया है। इस दर्शन का मूल आधार है—मानव-अस्तित्व जो जीवन का निरपेक्ष और एकमात्र सत्य है। इसका सूत्र है : 'अस्तित्व का आविर्भाव प्रयोजन से पहले होता है'—अतः अस्तित्व ही प्रमाण है। प्रयोजन, प्रेरणा आदि महत्तर तत्वों का निषेध करने वाला यह जीवन-दर्शन वस्तुतः अनास्था का ही दर्शन है—उच्चतर प्रेरणा के अभाव में, ईश्वर और धर्म के किसी रूप की स्वीकृति से वंचित केवल अस्तित्व को ही सिद्धि मानकर चलने वाला जीवन अपने में खोया हुआ और विषण्ण बनकर रह जाता है। (यह जीवन-दर्शन स्वभावतः अति-व्यक्तिवादी और नास्तिक जीवन-दर्शन है, जो काव्य में कुण्ठा और विचार में निराशा का पोषण करता है)।

स्वतन्त्रता-पूर्व युग में आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी अथवा समाज-शास्त्रीय आलोचना का बड़ा जोर था। भारतीय राजनीति में समाजवाद के प्रचार के साथ भारतीय साहित्य में भी समाजवादी दर्शन का प्रभाव बढ़ रहा था। साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा आलोचना में यह प्रभाव अधिक सक्रिय रहा क्योंकि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन भी तो अनुभूतिपरक अथवा दर्शनपरक न होकर मूलतः बुद्धिपरक था आलोचनात्मक ही रहा। हिन्दी में समाजवादी आलोचना का प्रमुख योगदान था—कल्याणवादी मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा। साहित्य में आनन्दवादी मूल्यों और कल्याणवादी मूल्यों में जाने-अनजाने एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा-सी चलती रहती है। द्विवेदी-युग में जिस प्रकार रीतिकाल के अतिशय रसवादी मूल्यों की प्रतिक्रिया में लोकमंगल का आग्रह सहसा प्रबल हो उठा था, उसी प्रकार १९३७ के बाद छायावाद की अन्तर्मुखी रसदृष्टि के विरुद्ध प्रगतिवादी आलोचकों ने बहिर्मुखी लोकदृष्टि का साग्रह उन्मेष किया। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के अपकर्ष-काल में कल्पना-विलास के अन्तर्गत काव्य की स्वस्थ लोकमंगल-भावना बहुत कुछ विलीन-सी होने लगी थी और हिन्दी कविता को स्वप्न से सत्य की ओर आकृष्ट करने की बड़ी आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रगतिवाद ने अंशतः की। किन्तु प्रगतिवाद की सत्य-विषयक धारणा एकांगी और अपूर्ण ही रही और उसी अनुपात से उसकी कल्याण-भावना भी। प्रगतिवाद के लिए सत्य केवल पदार्थ में सीमित रह गया और कल्याण केवल भौतिक सुख-स्वास्थ्य का ही वाचक बनकर रह गया। फलतः एक अतिवाद का निराकरण करने में उसने दूसरे अतिवाद का प्रसार एवं प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उसने काव्येतर बहिरंग मूल्यों का आरोप इतनी हठधर्मिता के साथ किया कि काव्य का मूलधर्म ही बाधित हो गया। सन् ४७ के बाद प्रगतिवादी आलोचना सक्रिय तो रही किन्तु इसका तेज मानो किसी ने छीन लिया। उसके आरम्भिक उत्साह का परिपाक जिस स्वस्थ प्रौढ़ रूप में होना चाहिए था वह नहीं हो पाया।

शिवदानसिंह चौहान 'आलोचना' से हटते ही साहित्य के सक्रिय क्षेत्र से कुछ दूर से हो गए। उनकी पहली कृति 'प्रगतिवाद' का अधिकांश स्वतन्त्रता-पूर्व की रचना है—बाद की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य के ८० वर्ष' स्वतन्त्र आलोचना कृति की अपेक्षा पाठ्य-ग्रंथ ही अधिक है। डा० रामविलास शर्मा उनकी अपेक्षा अधिक सक्रिय रहे हैं—'संस्कृति और साहित्य', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' आदि उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से बहुत से लेख तो ४७ के पहले के हैं और जो नए हैं उनमें भी प्रकारान्तर से घूमकर वे

ही बातें प्रायः वैसी ही असाहित्यिक भाषा में दोहरायी गई हैं। डा० शर्मा का दुर्भाग्य यह है कि उनकी दृष्टि मूलतः राजनीतिक है, साहित्यिक नहीं। वे न केवल राजनीतिक मूल्यों को ही वरन् राजनीतिक रीति-नीति और निम्न स्तर की राजनीतिक भाषा को भी साहित्य में यथावत् ग्रहण करते हैं। उनकी अपेक्षा डा० रांगेय राघव की दृष्टि अधिक साहित्यिक है। स्वयं स्रष्टा कलाकार होने के नाते वे साहित्य के मर्म से अभिज्ञ हैं और इसीलिए अपनी आलोचना में उन्होंने साहित्य की आत्मा को प्रायः अक्षुण्ण रखा है। प्रगतिवाद का गम्भीर अध्येता कदाचित् चौहान और उनके ग्रन्थों पर अधिक निर्भर करेगा। इस वर्ग के अन्य आलोचक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त भी मार्क्सवादी प्रतिमानों के आधार पर नवीनतम साहित्य का सिंहावलोकन करते रहे हैं; इधर नए आलोचकों में डा० नामवरसिंह सबसे अधिक प्राणवान हैं।

ऐतिहासिक आलोचना के समर्थ प्रतिनिधि हैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। स्वतन्त्रता के पूर्व और उसके पश्चात् भी इस क्षेत्र में उनका ही योगदान प्रमुख है। द्विवेदीजी साहित्य को व्यापक, सांस्कृतिक जीवन का अंग मानकर चलते हैं। आचार्य शुक्लजी जहाँ साहित्य को केवल शिक्षित समुदाय के सांस्कृतिक जीवन से सम्बद्ध कर देखते थे, वहाँ द्विवेदीजी समस्त जन-समुदाय के सांस्कृतिक जीवन के साथ उसका अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार साहित्य का आधार-फलक अत्यन्त विस्तृत हो जाता है, परन्तु उसको संभालने योग्य पांडित्य और व्यापक मानववादी मूल्यों में अटूट आस्था का सम्बल उन्हें प्राप्त है। स्वतन्त्रता के उपरांत इस विषय पर उनकी दो रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं : (१) नाथसंप्रदाय (२) हिन्दी साहित्य का आदिकाल। इसमें सन्देह नहीं कि यह उदार दृष्टि अपने आपमें अत्यन्त श्लाघ्य है परन्तु मेरा मन इसके प्रति सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो पाता : सार्वजनिक जीवन की सम्पूर्ण वाङ्मयी अभिव्यक्ति 'साहित्य' कैसे मानी जा सकती है ?—इस प्रकार की उदार दृष्टि साहित्य और असाहित्य के भेद को नहीं देख पाती, अत्यधिक विस्तार के मोह में सूक्ष्म-दर्शन की शक्ति खो बैठना अधिक श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। मैं इसे प्रस्तुत आलोचना-पद्धति की विशेष परिसीमा मानता हूँ। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनेक ग्रंथ अंशतः तथा डा० सत्येन्द्र का शोध-प्रबन्ध 'ब्रज-लोक साहित्य का अध्ययन' इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इधर 'आलोचना' के विशेषांक में प्रकाशित कतिपय लेख भी नये ढंग की ऐतिहासिक आलोचना के सुन्दर उदाहरण थे।

अब स्वतन्त्रता-पूर्व आलोचना की चार अन्य शैलियाँ शेष रह जाती हैं

जिनका विकास इस अवधि में नियमित रूप से हुआ है। सबसे पहले शास्त्रीय पद्धति को लीजिए। यों तो इसका प्रवर्तन द्वितीय-युग के आरंभ में ही हो गया था, किन्तु वास्तविक स्वरूप शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचनाओं में ही आकर स्थिर हुआ। शुक्लजी ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनराख्यान कर और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों को अपने अनुरूप ढालकर हिन्दी के लिए एक समन्वित आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया और उसके प्रतिमानों के द्वारा हिन्दी के अमर-काव्यों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया जो हिन्दी में शास्त्रीय आलोचना का आदर्श बना। इसी पद्धति का अवलंबन कर अनेक शास्त्रीय अध्ययन प्रकाशित हुए। इस परम्परा में स्वतन्त्रता के उपरांत भी अनेक प्राचीन-नवीन कवियों के काव्यों का सर्वांगीण विवेचन किया गया और अनेक प्रामाणिक कृतियाँ सामने आईं। विशेष काव्य-वादों तथा प्रवृत्तियों का विवेचन अब भी निरन्तर इसी पद्धति पर हो रहा है। शुक्लजी से प्रभावित किन्तु स्वतंत्र साहित्य-मूल्यां का अनुसरण करने वाले आलोचकों में प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० गुलाबराय और डा० देवराज का विशिष्ट स्थान है। प्रो० वाजपेयी ने काव्य की दार्शनिक भूमिका को साग्रह ग्रहण करते हुए भी काव्य के रोमानी मूल्यां को ही अन्ततः प्रमाण माना है—शुक्लजी की काव्य-दृष्टि को सांस्कृतिक कहकर वस्तुतः वे उनके आभिजात्यवाद के प्रति विरोध प्रकट करते हुए अपने रोमानी दृष्टिकोण के लिए समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं। प्रसाद, निराला तथा सूरदास का पक्ष लेकर इन्होंने वास्तव में काव्य के अंतरंग तत्वों की ही प्रतिष्ठा की है। १९४७ के बाद उनके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। प्रगतिवाद के हो-हल्ला में वाजपेयीजी कुछ डगमगा गये थे, किन्तु अब वे फिर अपनी भूमि पर लौट आये हैं और सौष्ठववादी प्रतिमानों पर दृढ़ रहकर 'अकाव्य' के समस्त रूपों पर, चाहे वे प्रगतिवाद का फतवा लेकर आयें या प्रयोगवाद का, डटकर प्रहार कर रहे हैं। प्रो० गुलाबराय की प्रतिभा इस दशक में निबन्ध-रचना में अधिक संलग्न रही। यों तो उनकी एक अभिनव कृति 'अध्ययन और आस्वाद' अभी प्रकाशित हुई है, परन्तु स्वतंत्र आलोचना की दृष्टि से उनके पूर्व-रचित ग्रन्थों की अपेक्षा इसका महत्त्व अधिक नहीं है। इस युग में जिन नये आलोचकों के व्यक्तित्व उभरकर सामने आये हैं उनमें कदाचित् सबसे अधिक स्वस्थ-स्थिर दृष्टि डा० देवराज को प्राप्त है। डा० देवराज वृत्ति से दार्शनिक और स्वभाव से स्रष्टा साहित्यकार हैं। वे आलोचना में छायावादी मूल्यां के विरोधी और आभिजात्यवादी मूल्यां के कायल हैं जो अमर साहित्य के अध्ययन से अनुगम-विधि द्वारा प्राप्त होते हैं।

अब हिन्दी आलोचना की दो प्रवृत्तियाँ शेष रह जाती हैं : सैद्धान्तिक आलोचना और शोधपरक आलोचना, जिन्होंने इस दशाब्द में विशेष प्रगति की है। सैद्धान्तिक आलोचना की परिपाटी हिन्दी में बहुत प्राचीन है। भारत की किसी आधुनिक भाषा में इतना प्रभूत साहित्य उपलब्ध नहीं है। मराठी की शास्त्रीय परम्परा अत्यन्त समृद्ध होती हुई भी इतनी प्राचीन नहीं है, तमिल आदि की परम्परा प्राचीन होने पर भी विकासशील नहीं रही। द्विवेदी-युग में भारतीय काव्यशास्त्र पर अनेक प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना हुई और उधर पाश्चात्य सिद्धान्तों की चर्चा भी नियमित रूप से होने लगी थी। आचार्य शुक्ल ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा दोनों का पुनराख्यान और यथावत् समंजन करने का सफल प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय सिद्धान्त का पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा आलोचना-शास्त्र के अनुसार आख्यान किया और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्तों को भारतीय काव्य-शास्त्र की कसौटी पर परखा। इस प्रकार नये साहित्य के अनुरूप काव्यशास्त्र का शिलान्यास हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस पद्धति का सम्यक् विकास हुआ। शुक्लजी और उनके युग की अपनी परिसीमाएँ थीं। उस समय हिन्दी के लेखक का न तो पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के साथ इतना घनिष्ठ सम्पर्क था जितना आज हो गया है, और न संस्कृत काव्य-शास्त्र के ही ग्रन्थ उसके लिए सुलभ थे। आज हिन्दी का यह अभाव बहुत कुछ पूरा हो गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के विस्तृत हिन्दी भाष्य आज सुलभ हैं : काव्यादर्श, काव्यालंकारसूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति-जीवित, काव्यमीमांसा, औचित्यविचारचर्चा, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रसगंगाधर, अभिनवभारती, नाट्यदर्पण, अग्नि-पुराण का काव्य-शास्त्रीय अंश, आदि, तो हिन्दी को उपलब्ध हो ही चुके हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु आदि की व्याख्या प्रेस में है। उधर सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यालंकार (भामह और रुद्र), व्यक्ति-विवेक आदि पर भी कार्य हो रहा है। इस प्रकार प्रायः समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र हिन्दी में अवतरित होता जा रहा है। हिन्दी अनुसंधान परिषद् दिल्ली तथा चौखम्बा जैसी संस्थाएँ तथा आचार्य विश्वेश्वर जैसे विद्वान् इस संदर्भ में विशेष साधुवाद के पात्र हैं। भारत की किसी भी आधुनिक भाषा में इस दिशा में व्यवस्थित कार्य नहीं हुआ, मराठी में भी नहीं—किसी में केवल ध्वन्यालोक ही है और किसी में काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण मात्र। अधिकारी विद्वान् इधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ओर भी बढ़े हैं, डा० देवराज उपाध्याय का रोमांटिक साहित्य-शास्त्र, डा० लीलाधर गुप्त का पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, डा० एस० पी० खत्री के कई ग्रन्थ

विशेषकर 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त', आदि इस दिशा में उपयोगी प्रयास हैं। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का आदि ग्रन्थ 'ग्रस्तू का काव्यशास्त्र', लांजाइनस के 'दिसब्लाइम' होरेस की 'आर्स पोएटिका' के हिन्दी अनुवाद और 'पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा' नाम से यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के सिद्धान्त-वाक्यों के संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में गत १३-१४ वर्षों में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। आज का आलोचक केवल विवरण पढ़कर अथवा संदर्भ-ग्रन्थों के आश्रय से संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धान्तों की चर्चा नहीं करता, उसका आधार पुष्ट और ज्ञान प्रामाणिक होता है। शुक्लजी के युग में यह सुलभ नहीं था। उदाहरण के लिए स्वयं शुक्लजी के निबन्ध 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने न क्रोचे को धैर्य-पूर्वक पढ़ा है और न 'वक्रोक्तिजीवित' का प्रामाणिक संस्करण ही उन्हें उपलब्ध था। आज का हिन्दी आलोचक इस अभाव से पीड़ित नहीं है।

शोधपरक आलोचना और भी अधिक सक्रिय रही है। हिन्दी में शोध-कार्य का आरम्भ जितनी मंथर गति से हुआ था, उसके विकास में उतनी ही त्वरा आ गई है और गत दशक में उसके परिमाण एवं क्षेत्र दोनों का विस्तार स्वयं ही अनुसंधान का विषय बन गया है। तत्त्व-दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—(१) तथ्य-परक और (२) तत्त्व-परक, जो क्रमशः सफल अनुसंधान के दो अनुबंधों अर्थात् 'अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण' तथा 'उपलब्ध तथ्यों का नवीन आख्यान' के ही प्रोद्भास हैं। तथ्य-दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान में अनेक प्रवृत्तियों का आकलन किया जा सकता है; सबसे पहले तो हम दो व्यापक वर्ग बना सकते हैं—भाषाविज्ञान-सम्बन्धी शोध और साहित्य-विषयक शोध। इसके उपरान्त भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जहाँ विभिन्न धाराओं का अनुसंधान किया जा सकता है, वहाँ साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक अंतःप्रवृत्तियों का उद्घाटन सहज सम्भव है। इस क्षेत्र में तीन आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं—ऐतिहासिक, वैयक्तिक और शास्त्रीय। ऐतिहासिक अनुसंधान के अंतर्गत एक ओर हिन्दी साहित्य के किसी काल-खण्ड का ऐतिहासिक विवेचन मिलता है, तो दूसरी ओर किसी साहित्य-विधा या साहित्य-सम्प्रदाय अथवा साहित्य-धारा की परम्परा का भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जा रहा है—और साथ ही सांस्कृतिक तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवेश का भी अध्ययन हो रहा है। वैयक्तिक अनुसंधान से अभिप्राय है कवि-लेखकों का स्वतंत्र शोधपरक अध्ययन—सामान्य लेखकों का अध्ययन सर्वांग होता है, महानु कवि-लेखकों के एक-एक अंग को लेकर भी अनुसंधान होता है। शास्त्रीय अनुसंधान की परिधि व्यापक है; उसके

अन्तर्गत साहित्य के वस्तु-तत्त्व और कला-तत्त्व दोनों का अध्ययन अनेक शास्त्रों के प्रकाश में किया जा रहा है; वस्तु-तत्त्व से सम्बद्ध शास्त्र हैं दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि, और कला-तत्त्व के सहायक शास्त्र हैं काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र आदि। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, रसशास्त्रीय अध्ययन और उधर साहित्य-विधाओं के सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन अर्थात् उनके कला-रूपों के सौन्दर्य-तत्त्वों का अध्ययन, शास्त्रीय अनुसंधान के अंतर्गत आते हैं। तीसरा वर्गीकरण पद्धतिमूलक भी हो सकता है; पद्धतियाँ सामान्यतः तीन हैं—ऐतिहासिक, शास्त्रीय और वैज्ञानिक। ऐतिहासिक पद्धति में प्राधान्य रहता है परिवेश एवं परम्परा का और इसका मूलवर्ती दृष्टिकोण विश्लेषात्मक तथा व्यक्तिपरक न होकर संश्लेषात्मक एवं सामासिक होता है। शास्त्रीय पद्धति का आधार है शास्त्र जिसमें विश्लेषण प्रमुख रहता है; अनुसंधाता की दृष्टि सिद्धांत के प्रकाश में वस्तु और रूप का निरीक्षण-परीक्षण करती है। वैज्ञानिक पद्धति सामान्यतः अनुसंधान के सभी रूपों को बीधती हुई अपने वस्तुगत तथ्यग्राही दृष्टिकोण के कारण शेष दो से भिन्न हो जाती है—शास्त्रीय पद्धति से भिन्न यह निगमन की अपेक्षा अनुगमन का ही अवलंब लेती है और सांख्यिकी की विधियों तथा उपायों पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

हिन्दी में अनुसंधान की प्रायः ये सभी प्रवृत्तियाँ-पद्धतियाँ लक्षित होती हैं और सभी पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। अब तक लगभग २५० शोधप्रबन्धों पर उपाधि प्रदान की जा चुकी है जिनमें से आधे प्रकाशित हो चुके हैं और ५०० से भी अधिक विद्यार्थी विधिवत् अनुसंधान कर रहे हैं। ये तथ्य केवल परिमाण की दृष्टि से ही किसी भी भाषा के विद्वान को चौंकाने के लिए पर्याप्त हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी ग्रन्थ आदर्श शोध के निदर्शन नहीं हैं—इनमें ऐसे ग्रंथों की बहुत बड़ी संख्या है जो तथ्य-शोध और तत्त्व-शोध दोनों की दृष्टि से अपूर्ण हैं। परन्तु इसमें ऐसे प्रबन्धों की संख्या भी कम नहीं है, जिनका योगदान विद्या की वृद्धि में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनके द्वारा हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंग-उपांगों से सम्बद्ध पुष्कल सामग्री प्रकाश में आई है और उनका सर्वांग मंथन हुआ है। ज्ञानराशि का एक विशाल सागर हिन्दी के विद्यार्थी के सामने आज लहरा उठा है।

हिंदी में शोध की कुछ समस्याएँ

हिन्दी में शोध की सबसे प्रमुख समस्या है शोधार्थियों की वर्तमान संख्या की। अभी कुछ दिन पहले दक्षिण के एक विद्वान् हमारे विश्वविद्यालय में पधारे थे। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ अपनी भाषा और साहित्य की प्रगति का वर्णन किया। काफ़ी देर तक आदरपूर्वक सुनने के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपके साहित्य में सभी विश्वविद्यालयों को मिलाकर कितने विद्यार्थी एम० ए० की परीक्षा में बैठते हैं, और अनुसंधाताओं की कुल संख्या कितनी है? उन्होंने बड़े गर्व से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया : कोई तीस-चालीस छात्र एम० ए० में बैठते हैं और शोधार्थियों की संख्या आठ-दस ज़रूर होगी। विद्वानु मित्र ने फिर यही प्रश्न मुझसे किया। मैंने कहा कि आप विश्वास कर सकें तो अपनी दोनों संख्याओं को कम-से-कम ५० से गुणा कर दीजिये। यह वर्धमान संख्या हमारे लिए यदि गर्व का कारण नहीं है तो कम-से-कम चिन्ता का कारण भी नहीं है। किन्तु यह एक समस्या अवश्य है जो समाधान की अपेक्षा करती है। सबसे पहले तो विषयों की समस्या खड़ी होती है—नित्य नवीन अनुसंधेय विषय भी तो असंख्य नहीं हो सकते। अनुसंधेय विषय से मेरा यह अभिप्राय है कि उस विषय की परिधि के भीतर तथ्य-शोध और तत्त्व-बोध दोनों के लिये ही वांछित अवकाश हो, पुनरावृत्ति न होने पाये और साथ ही उसके परिणाम भी ज्ञानवर्धक हों। दूसरी सम्बद्ध समस्या है निरीक्षकों की। इतने निरीक्षक कहाँ से आएँ? संख्या की यह वृद्धि जिस वेग से हो रही है पूर्ति के साधन उसके अनुपात में अत्यन्त अपर्याप्त हैं। बढ़ती हुई बेकारी ने स्थिति को और भी दयनीय बना दिया है। आजकल जो अपरिचित व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में भटकते हुए मेरे पास आते हैं, आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनमें से प्रायः ३३ प्रतिशत नौकरी के लिए और ६७ प्रतिशत शोध-कार्य के लिये आते हैं। जब मुझ जैसे श्रद्धाहीन आदमी का यह हाल है तो लब्धकीर्ति दिग्गजों के पास भटकने वालों की दयनीय दशा की

दादा—स्वर्गीय पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

मेरे किशोर मन में जैसे-जैसे साहित्यिक चेतना का विकास होता गया, वैसे ही स्वदेश-विदेश के कलाकारों के कल्पना-धूमिल रोमानी चित्र मेरे मन में बनने लगे और उनके साथ एक विशेष प्रकार का रागात्मक संबंध स्थापित होने लगा। कालांतर में प्रसाद और प्रेमचन्द को छोड़कर इस युग के प्रायः सभी मूर्धन्य लेखकों से परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मेरे साहित्यिक संबंध क्रमशः दो वर्गों में विभक्त हो गये। पहला वर्ग तो ऐसे लेखकों का है जिनके साथ मेरा कवि-सहृदय-संबंध ही अधिक है—इस संबंध में संसर्गजन्य सहज आत्मीय भाव की अपेक्षा बुद्धि और कल्पना से संस्पृष्ट एक प्रकार की अप्रत्यक्ष श्रद्धा ही रहती है। दूसरे वर्ग के कवि-लेखकों के साथ साहचर्य का भी सुयोग मिलने से कल्पना-तत्त्व क्षीण और भाव-तत्त्व अनायास ही प्रगाढ़ हो गया है। यह कहना आज कठिन है कि इस नैकट्य से केवल लाभ ही लाभ हुआ : वैयक्तिक संबंध के विकास के साथ-साथ साहित्यिक संबंध का ह्रास अवश्यभावी था और जहाँ व्यक्ति की गरिमा इस क्षतिपूर्ति में असफल रही वहाँ तबे हानि ही अधिक हाथ लगी है।

नवीन जी इस दूसरे वर्ग में ही आते थे। पिछले सात-आठ वर्षों से पूज्य ददा—राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के माध्यम से उनके साथ पारिवारिक संबंध-सा हो गया था; वे केवल कवि नवीन न रहकर दादा नवीन बन गये थे। फिर भी उनके साथ वैयक्तिक संबंध की स्थापना से साहित्यिक संबंध की विशेष क्षति नहीं हुई थी। इसके दो कारण थे : एक तो यह कि उनका अधिक-कांश साहित्य अप्रकाशित ही था इसलिए व्यक्तिगत परिचय से पूर्व काव्य का परिचय भी अधिक घनिष्ठ नहीं था; अतः प्रत्यक्ष संपर्क से उनके कवि-रूप का साक्षात्कार भी बढ़ा ही। दूसरे उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता थी कि उसका आकर्षण दूरी में नहीं बरन् सामीप्य में ही निखरता था। आज वे इस संसार में नहीं हैं—दिल्ली की साहित्य-सभाओं में ददा के घर की सांध्य-गोष्ठियों

में उनका अभाव मन में एक हूक-सी पँदा करता है। कई बार उनके विषय में लिखने की प्रेरणा हुई—बाहर से भी और भीतर से भी, किन्तु अभी तक उनकी मृत्यु का शोक मनोवेग की स्थिति पार कर स्थायी भाव नहीं बन पाया। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति के निष्फल प्रयास से मैं बचता रहा, किन्तु अब उनके प्रति भावांजलि अर्पित करना अनिवार्य हो गया है। शास्त्र में जहाँ अनेक प्रकार के ऋणों की चर्चा है वहाँ न जाने भावना के ऋण की उपेक्षा क्यों कर दी गई है? मुझे लगता है कि आत्मा के वैशद्य के लिए अन्य ऋणों की अपेक्षा भावना के ऋण से मुक्ति पाना अधिक आवश्यक है। आज इस संस्मरण के द्वारा जब मैं उस ऋण-मोक्ष का पहला प्रयत्न कर रहा हूँ तो मेरी कल्पना में नवीन जी के तीन चित्र क्रमशः उभरकर आते हैं।

१. (कानपुर—१९४५)

अपने शोध-कार्य के संबंध में सामग्री-संकलन करता हुआ मैं स्वर्गीय पं० कृष्णबिहारी मिश्र के ग्राम गंधौली से कानपुर लौटा था। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' उन दिनों वहीं थे। दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैं प्रताप-कार्यालय में उनके दर्शन करने पहुँच गया। वे मुख्य कार्यालय के भीतर ही एक छोटे-से कमरे में बैठे थे—शायद उसमें ही वे रहते भी थे। उन्होंने अत्यन्त सहज भाव से मेरा स्वागत किया। उस समय तक उनका नाम साहित्य-जगत् में प्रसिद्ध हो चुका था—राष्ट्रीय कवियों की पंक्ति में वे अग्रणी थे। किन्तु उनका केवल एक ही काव्य-संग्रह 'कुमकुम' प्रकाशित हुआ था—उसका अध्ययन तो मैं कर चुका था, किन्तु उसके आगे मेरा उनके कृतित्व और व्यक्तित्व से परिचय नहीं था क्योंकि मैं न तो 'प्रताप' का ही पाठक था और न नवीन जी की कर्मभूमि कानपुर अथवा मध्यप्रान्त से ही मेरा कोई सम्बन्ध था। हिन्दी के एक विशिष्ट कवि के प्रति जिस प्रकार की श्रद्धा और सम्भ्रम की भावना अपेक्षित थी, मेरे मन में वह विद्यमान थी। साहित्य में उस समय तक मेरा भी प्रवेश हो चुका था; मेरी प्रथम चार आलोचना-पुस्तकें—'सुमित्रानन्दन पंत' से लेकर 'विचार और अनुभूति' तक—प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः 'नवीन' जी के लिए भी मैं सर्वथा अपरिचित नहीं था। हिन्दी कविता के इतिहास में यह वह समय था जब छायावाद का ज्वार उतर चुका था और उसके प्रति एक प्रकार का मुखर विद्रोह बल पकड़ रहा था। जीवन और साहित्य के सूक्ष्म-अधिमानसिक मूल्यों के विरुद्ध बहिर्मुख राष्ट्रीय-सामाजिक प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आ रही थीं। इस आंदोलन के पीछे यद्यपि वामपंथी विचारधारा की प्रेरणा प्रमुख थी, किन्तु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक

प्रवृत्तियों को भी अप्रत्यक्ष रूप में इससे बल मिला। 'नवीन' जैसे उग्र राष्ट्रवादी कवि की क्रांतिमयी वाणी, जो छायावाद के सौरभ-श्लथ रेशमी परिवेश में कुछ असामयिक-सी प्रतीत होने लगती थी, इस उत्तेजित वातावरण में फिर से हुंकार उठी। इस प्रकार यह 'नवीन' की कविता का पुनर्जीवन-काल था। नये मूल्यों का प्रचार करने वाले आलोचक उनकी रचनाओं के प्रचुर उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कर रहे थे। मैं इस प्रचार-आन्दोलन के पक्ष में नहीं था—काव्य के सुस्थिर मूल्यों में विश्वास होने के कारण उस प्रचार-त्मक या प्रचार-प्रेरित साहित्य के प्रति मेरे मन में एक प्रकार का अनादर-भाव था। परन्तु 'नवीन' जी की कविताओं ने मुझे अनायास ही आकृष्ट कर लिया क्योंकि उनका उत्साह और उनकी उत्क्रांति सहज अनुभूत और जीवन्त थी। भारत के युग-जीवन में प्रवाहित विद्युत्-धारा का उनको ज्वलन्त अनुभव था। अतः चाहे वे गांधी का प्रशस्ति-गान करें या उनकी पराजय-नीति के विरुद्ध आक्रोश की अभिव्यक्ति या उद्दाम शृंगार का उद्गीथ, उनकी वाणी अनिवार्यतः प्राण-रस से अभिषिक्त रहती थी। इस प्रकार उनका काव्य सहज रसमय काव्य था—कोरा सिद्धान्तवाद नहीं।

अपने सचेत आलोचक मन में कुछ इसी प्रकार की धारणाएँ लेकर मैं अलमस्त यौवन के उस कवि का व्यक्ति-दर्शन करने गया। उस समय तक मैं पंत के अंतर्बाह्य-एक सौम्य-मधुर व्यक्तित्व के कोमल सम्पर्क में आ चुका था, निराला की मुक्तकुन्तल विराट् पुरुष-मूर्ति के अभिभूत करने वाले प्रभाव को आत्मसात् कर चुका था, महादेवी की कविता के रसभीने रंगों और उनके व्यक्तित्व एवं वेशभूषा की सादगी के बीच सामंजस्य स्थापित कर चुका था, अपनी सहज सामान्यता में असामान्य गुप्त-बन्धुओं के व्यक्ति-भेद को मन और बुद्धि की आँखों से अलग-अलग कर देख चुका था। पर आज मैं इन सबसे भिन्न कवि के सामने बैठा था। इस कवि की शरीर-सम्पत्ति आकर्षक थी, उसे देखकर अनायास ही कामायनी की पंक्तियों का स्मरण हो आया—

‘अवयव की हड़ मांस-पेशियाँ ऊर्जस्वित था धीर्य अपार

स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार’

ऐसा नहीं था कि वे अपनी इस शरीर-सम्पत्ति से अवगत न हों—किन्तु उनके मन की मस्ती इतनी प्रबल थी कि सचेत होने पर भी वे उसके प्रति विशेष ध्यान देने में असमर्थ थे। उनके शुभ्र अलक-जाल की सँवारी हुई बंकिमा जहाँ इस बात का आभास देती थी कि वह स्वरति की भावना से सर्वथा मुक्त नहीं है वहाँ उनका घुटनों तक का जाँघिया इस रहस्य का उद्घाटन कर रहा था

कि अन्ततः जीत उनके फक्कड़पन की ही होती है। सुरचि के अलंकारों से वे अपरिचित नहीं हैं परन्तु मस्ती का सुख उन्हें उन सबकी उपेक्षा के लिए लाचार कर देता है। उनके व्यक्तित्व में सामान्यता नहीं थी, किन्तु सहजता भरपूर थी। मैं काफ़ी देर तक 'नवीन' जी से बात करता रहा—हिन्दी कविता के विषय में और स्वयं उनकी कविता के विषय में भी। जहाँ तक मुझे स्मरण है वे सुनते ही अधिक रहे, बोले कम। मैं उनके काव्य से प्रभावित था, उसमें अभिव्यक्त तारुण्य का प्रवेग—शृंगार और वीर दोनों रूपों में—मुझे सहज आकृष्ट करता था। किन्तु छायावादी कला का अभ्यस्त मेरा मन उनकी अभिव्यंजना से संतुष्ट नहीं था। उसमें शक्ति और ओज था पर उसको सँवारने वाला कलात्मक संयम कदाचित् अभीष्ट मात्रा में नहीं था—मैंने अपना मन्तव्य बिना किसी दुराव-छिपाव के उनके सामने व्यक्त कर दिया। बोले : हाँ भई, यह है—तुम जैसे तरुण आलोचकों को इस दिशा में मार्ग-दर्शन करना चाहिए। मैंने तुरन्त ही सजग होकर उनकी मुखाकृति की ओर देखा कि कहीं मेरी उस अनवसर आलोचना पर उन्होंने व्यंग्य तो नहीं किया—किन्तु उस मुक्त दृष्टि में कहीं भी वक्रता नहीं थी।

फिर मैंने उनसे कविता-पाठ के लिए निवेदन किया। उन्होंने कुछ शृंगार के गीत और कुछ राष्ट्रीय कविताएँ मुझे सुनाईं। उस स्वर में अपूर्व आकर्षण था—काव्य-पाठ करते समय उनका व्यक्तित्व एक विशेष रस-दीप्ति से मंडित हो उठता था। उनका स्वर-सन्धान जहाँ हृदय के कवित्व का बाहर की ओर संप्रेषण करता था, वहाँ अर्धनिमीलित आँखें उस बहिर्गंत रस को फिर से प्राणों की ओर खींचने का प्रयास-सा करती थीं। काव्य का शब्दार्थ जैसे दूसरी बार प्राणों के रस से अभिषिक्त हो उठता था। उनके उस तन्मय काव्य-पाठ को देख सुनकर अनायास ही संस्कृत काव्य-शास्त्र की इस मान्यता का खण्डन हो जाता था कि 'कविः करोति काव्यानि रसं जानाति पण्डितः।' जिस प्रकार नदी का उन्मद प्रवाह कुछ कंकड़-पत्थरों को भी सहज रूप में बहा ले जाता है, उसी प्रकार उनकी स्फीत वाग्धारा में दो-चार अनगढ़ शब्द अलक्षित ही बह जाते थे। मैं कवित्व के मूर्त और अमूर्त रूप का साक्षात्कार कर आत्म-विभोर हो गया और प्रणाम कर लौट आया। अपने युग में नवीन जी का काव्य-पाठ वास्तव में अप्रतिम था। संगीत का भी उन्हें ज्ञान था और क्रमशः वे उसकी ओर बढ़ने लगे थे। बाद में आकर उनका काव्य दर्शन से और काव्य-पाठ संगीत से बोझिल होने लगा था—एक में प्राणों की मस्ती और दूसरे में वाणी का मुक्त प्रसार बँधने लगा था। मैंने कई बार उनके पूर्व रूप को उद्बुद्ध करने की चेष्टा भी की, किन्तु

उस समय तक दर्शन और संगीत के मोह ने उनके मन और वाणी को काफ़ी जकड़ लिया था, इसलिए कोई लाभ नहीं हुआ। उनके काव्य-रसिकों को मेरी ही तरह इससे निराशा होती थी, किन्तु वे अपनी ऊर्जस्वित रचनाओं को भी प्राग्रहपूर्वक गाकर ही पढ़ते थे। और, अन्त में तो दैव के विपाक से केवल अन्तस्संगीत ही शेष रह गया—वाणी का भोज और प्रसार दोनों ही कुण्ठित हो गये।

२. (दिल्ली, १९५६)

दूसरा चित्र दिल्ली के साहित्यिक जीवन की एक करुण-मधुर घटना से सम्बद्ध है। ८ दिसम्बर, १९५६ को दिल्ली के साहित्यकारों की ओर से नवीन जी की ६३वीं वर्षगांठ मनाने का आयोजन किया गया। व्यवस्था का भार प्रान्तीय सम्मेलन के प्रधानमन्त्री श्री गोपालप्रसाद व्यास ने सँभाला और गांधी-उद्यान में कवि के गौरव के अनुरूप अभिनन्दन-समारोह रचा गया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त सभापति थे और दिल्ली के प्रायः सभी साहित्यकार उपस्थित थे। कार्यक्रम लम्बा और श्रद्दालुओं की सूची बहुत बड़ी थी। नवीन जी का स्वास्थ्य तब तक काफ़ी बिगड़ चुका था—वाणी सर्वथा कुण्ठित हो चुकी थी, शरीर और हृदय दुर्बल हो गये थे, देर तक बैठने के लिए डाक्टरों की अनुमति नहीं थी। इसलिए कार्यक्रम के संचालन का दायित्व मैंने अपने ऊपर ले लिया। इस अभिनन्दन में उल्लास का वातावरण नहीं था—एक विषाद की छाया, मैं कहना चाहूँगा कि आसन्न मृत्यु की छाया, सर्वत्र विद्यमान थी। मुझे भय था कि कार्यक्रम का स्वरूप कहीं भावात्मक से अभावात्मक न हो जाय अर्थात्—अभिनन्दन और मंगल-कामना के स्थान पर अमंगल के निवारण की कामना ही वहीं प्रमुख न हो जाय। हुआ भी वही और प्रयत्न करने पर भी मैं सत्य पर आवरण न डाल सका। वास्तव में कवि की स्थिति उस समय ऐसी थी कि उसे देखते हुए शतायु की कामना आत्म-प्रवंचना मात्र होती!

'नवीन' जी श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास मसनद के सहारे कालीन पर बैठे हुए थे। उनके आस-पास अनेक वरिष्ठ जन आसीन थे। वेश आदि भी उनका वही चिर-परिचित था : शरीर पर सुंदर सिली हुई शेरवानी और सिर पर वही, बंकिमा के साथ धारण की हुई, गांधी टोपी जिसमें से दोनों और उनके शुभ्र केश-गुच्छ अलग दिखाई दे रहे थे। वे सामान्यतः प्रसन्न थे फिर भी लगता था मानो उनकी आत्मा का चैतन्य प्रकाश विलीन हो गया है—उस पुरुष-शरीर की रूपरेखा तो पूर्ववत् स्पष्ट थी किन्तु रंग जैसे रीत चुका था। उनकी

वह तेजोदीप्त दृष्टि अन्तर्मुख हो गयी थी और मन के भावों की निखिल व्यंजना केवल 'हरे राम' में सिमटकर रह गयी थी। कवि दिनकर ने अभिनन्दन-पत्र पड़ा जिसमें कवि, योद्धा और मनीषी का एकत्र स्तवन था। दिनकर की भोजस्वी बाणी से वातावरण कुछ बदला—अभिनन्दन के अनुरूप भोज का संचार हुआ, किन्तु जिस समय वे अभिनन्दन-पत्र समर्पित कर चरण-स्पर्श के लिए झुके, नवीन जी की अवरुद्ध भावुकता सहसा द्रवीभूत हो गई। इस घटना का प्रभाव दुर्निवार था—सभी की आँखें छनछला उठीं : दहा—श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने आपको न सँभाल सके, अन्य वरिष्ठ जन भी विचलित हो उठे। हिन्दी के साहित्यिक जीवन में यह एक अपूर्व घटना थी। हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य की तीन विकास-रेखाएँ मानो एक भाव-बिन्दु पर आकर अनायास ही मिल गई थीं। दिनकर के बाद अनेक वक्ताओं ने श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं—किन्तु करुणा का वह भीना पट हट नहीं सका वरन् और भी गाढ़ा हो गया जबकि स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने आवेश में आकर यह प्रार्थना की कि भगवान् उनकी आयु का कुछ अंश नवीन जी को प्रदान कर दे। भगवान् ने कदाचित् उनकी प्रार्थना का पूर्वाध्वं ही सुना—और आचार्य जी की आयु सचमुच नवीन जी से पूर्व ही निश्शेष हो गयी।

३. (महायात्रा)

अन्त में है कवि की महायात्रा का करुण दृश्य। जैसा कि श्री दिनकर ने अपने मार्मिक संस्मरण में लिखा है, नवीन जी के जीवन के अन्तिम तीन वर्ष मृत्यु के साथ निरन्तर संघर्ष में बीते। अनेक भीषण रोगों ने मिलकर उनपर प्रहार किये—हृद्‌रोग, रक्तचाप, पक्षाघात, और अन्त में कदाचित् फेफड़े का कैंसर। आरम्भ के प्रहारों को तो उन्होंने अपने सहज युयुत्सु-भाव से झेला किन्तु पक्षाघात ने जब उनकी वाणी को कुण्ठित कर दिया तो मुझे लगा कि उनका मन भी हारने लगा। वाणी और अर्थ का कितना अविच्छिन्न सम्बन्ध है, मन ही वाणी को प्रभावित नहीं करता, वाणी भी मन पर अनिवार्य प्रभाव डालती है। काव्य-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में मेरा यह अपना विषय रहा है; स्वदेश-विदेश के अनेक आचार्यों ने गंभीर तर्कों के द्वारा इस तथ्य की प्रामाणिक स्थापना की है। बुद्धि द्वारा गृहीत यह सत्य नवीन जी को देखकर अनायास ही मेरे घट में उतर गया। अभिव्यक्ति का अभाव उनके मन में एक विचित्र प्रकार की घुमड़न और कुंठा पैदा करने लगा और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि वाणी अब नहीं लौटेगी तो पहली बार उस योद्धा ने जैसे

मृत्यु के सामने हथियार डाल दिये। रोग के तीसरे आक्रमण के बाद मित्रों के कुशल-प्रश्नों के उत्तर में फिर वे यही कहते थे—“हाँ भाई, कुछ है नहीं।” हिन्दी संसार में नवीन जी को वाणी का अपूर्व वरदान प्राप्त था—वैसी वाग्मिता, वह स्वर-संपदा, कंठ की वह ऊर्जा अन्यत्र दुर्लभ थी। मैंने एक बार एक विराट् सभा में हिन्दी की गरिमा पर उनका भाषण सुना था—प्रधानमंत्री के कुछ वाक्यों से सहसा वे उत्तेजित हो उठे थे। ऐसा लगता था जैसे पाटलिपुत्र की जातूवी में बाढ़ आ गई हो। इस प्रकार के और भी कई चित्र मेरी स्मृति में भास्वर थे। ऐसी भूमिका में जब मैं उन्हें असहाय होकर शब्दों के साथ जूझकर बार-बार हारते देखता था तो मन को बड़ी चोट लगती थी। उनका मन रखने के लिए हम लोग भी कभी-कभी उसी प्रकार बोलने का अभिनय करते थे तो वे बड़े जोर से हँस पड़ते थे। एक बार ‘भारती-संगम’ की विचार-गोष्ठी में ‘साहित्यिक’ की परिभाषा के विषय में कुछ विवाद हो गया। मैंने अपने मत को कुछ अधिक उग्रता के साथ व्यक्त करते हुए कहा—‘मुझे संदेह है कि विनोबा जी की रचनाएँ भी शुद्ध साहित्य की परिधि में आ सकेंगी या नहीं?’ यह सुनकर वे एकदम भड़क उठे और बोले—‘तुम...तुम सु... क्या बक...ते हो।’ अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में, अभिव्यक्ति के अभाव में, आवेश की मात्रा उनमें और भी बढ़ गई थी—कभी-कभी वे दहा पर भी, जिनका कि वे आते-जाते नियमित रूप से चरण-स्पर्श करते थे, बिना किसी कारण के नाराज हो जाते थे। परन्तु उनका यह क्रोध रौद्र का स्थायी न रहकर तब तक कण्ठ का संचारी बन चुका था और हम सभी ने उनसे विवाद न करने का संकल्प कर लिया था। धीरे-धीरे हमारी प्रतिक्रिया उनके आवेश को देखकर बहुत कुछ वैसी ही होने लगी थी जैसी कि किसी बालक के आवेश को देखकर उसके परिजनों के मन में होती है। गोष्ठी में उनकी आवेश-रुद्ध वाणी को सुनकर हम सब लोग हँस पड़े और वे भी यह कहते हुए बैठ गये—‘यह बड़ा बेव...क़ूफ़ है।’

रोग का अन्तिम आक्रमण उनको लेकर ही गया। वे कई महीने विर्लिग्डन अस्पताल में रहे। हम लोग नियमित रूप से उनके पास आते-जाते रहते थे। बीच में वे कुछ ठीक भी हुए परन्तु प्रयत्न करने पर भी अस्पताल से बाहर नहीं आये। कोई एक महीने से उनकी हालत ज्यादा बिगड़ने लगी और मुख तथा शरीर के अन्य अंगों पर शोथ के लक्षण प्रकट हो गये। एक दिन रात को जब मैं गया तो बोले कि अब तो चल-चलाव के दिन हैं। मैंने अपने और उनके मन को ढाढ़स देने का निष्फल प्रयत्न किया और कुछ देर बाद लौट आया। उस

दिन रात को मुझे नींद नहीं आयी। उनके जीवन से संबद्ध अनेक स्मृति-चित्र, अपने परिवार के कुछ उसी प्रकार के कष्ट दृश्य, एकाध परिजन के स्वास्थ्य के विषय में अनेक आशंकाएँ तरह-तरह के भयावह रूप धारण कर मेरी चेतना को त्रास देती रहीं। फिर मैं अस्पताल नहीं गया—२६ अप्रैल '६० को अपराह्न में उनके घर ही पहुँचा—नवीन जी के नहीं, नवीन जी के शव के दर्शन करने के लिए। उनका शव ५, विन्डसर प्लेस में उनके चिरपरिचित निवासस्थान के बरामदे में रखा था। देश के मूर्धन्य नेता अपने उस अभिन्न सहकर्मी के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने के लिए आ-जा रहे थे—राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, गृहमंत्री आये। कुछ देर तक अवसन्न मुद्रा में शव के सामने खड़े होकर फिर उनके संस्कार के विषय में आवश्यक निर्णय करने के लिए घर के भीतर चले गये। बड़े लोग जब हट गये तो श्री जगदीशचंद्र माथुर के साथ मैं आगे बढ़ा। प्रयत्न करने पर मैंने नवीन जी का चरण-स्पर्श तो कर लिया किन्तु उनके मुख की ओर देखने का मेरा साहस न हुआ। सामान्यतः मुझे अपने सुख-दुःख की सार्वजनिक अभिव्यक्ति अच्छी नहीं लगती और मैं ऐसे अवसर को या तो बचा जाता हूँ या संयम से काम लेता हूँ। किन्तु इस समय मेरे लिए इन दोनों में से कोई भी विकल्प संभव नहीं था और मैंने अपने मन में कहा कि मानव होकर मानव-दुर्बलता की स्वीकृति से क्या डरना।

कुछ समय में ही यह निर्णय कर लिया गया कि नवीन जी का अन्तिम-संस्कार उनकी कर्म-भूमि कानपुर में होगा। इस विषय में कदाचित् कुछ मतभेद था जो परिजनों की परिधि से बाहर निकलकर मित्र-मंडल तक फैल गया था। मेरी अपनी धारणा थी कि यह आन्तरिक प्रश्न है जिसका समाधान नवीन जी के परिवार को ही करना चाहिए किन्तु कुछ मित्रों का आग्रह था कि नवीन जी का व्यक्तित्व सार्वजनिक है इसलिए उनके अन्तिम-संस्कार के प्रश्न का समाधान भी सार्वजनिक होना चाहिए। स्थिति को देखते हुए मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था; तभी, सौभाग्य से, समर्थ व्यक्तियों ने शीघ्र ही निर्णय कर यह घोषणा कर दी कि रात को आठ बजे की गाड़ी से कवि का शव कानपुर के लिए प्रस्थान करेगा। अपने को अनधिकारी मानते हुए भी मेरे मन ने कहा कि निर्णय ठीक ही हुआ और मैं ६, नार्थ एवन्यू चला गया। गुप्तजी इसके कुछ पहले ही भीषण रोगग्रस्त हो चुके थे। उस समय स्वयं रूग्ण होते हुए भी नवीन जी ने उनकी परिचर्या में बड़ी भाग-दौड़ की थी। डाक्टरों का अब भी बही आदेश था कि जहाँ तक हो उन्हें शरीर और मन के अम से बचाया जाये। इसलिए अनेक मित्रों और स्वजनों की राय थी कि दहा स्थान न जायें। मुझको

भी उनके स्वास्थ्य की चिन्ता किसी से कम नहीं थी, किन्तु फिर भी यह बात मेरे मन में नहीं बैठती थी कि नवीनजी की उस अन्तिम विदा-वेला में मैथिलीशरण गुप्त उपस्थित न हों। मेरे अतिरिक्त एक व्यक्ति और था जो मेरी ही तरह सोच रहा था पर कह नहीं पा रहा था—वह था गुप्तजी का आत्मज चिरंजीव उर्मिलाचरण जिसका नवीन जी के प्रति अगाध अनुराग था। उसने तुरन्त ही अलग ले जाकर मुझसे कहा—‘डाक्टर साहब, क्या यह ठीक है?’ उसके इस प्रश्न से मेरे मन की दुविधा एक क्षण में विलीन हो गई और मैंने आश्चर्य होकर उत्तर दिया—‘नहीं, दवा को वहाँ चलना चाहिए।’ दवा बेचारे बेबस होकर मित्रों का वह सत्परामर्श सुन रहे थे। ज्योंही मैंने अपना मत व्यक्त किया, फड़ककर बोले—‘बिल्कुल ठीक है—हमें जाना चाहिए और हम जायेंगे।’ सात बजे हम लोग स्टेशन पहुँच गए। दिल्ली का अपार जन-समुदाय स्टेशन पर उमड़ पड़ा था। छोटे-बड़े सभी साहित्यकार, हिन्दी-सेवी अनेक राज-पुरुष और राजनीतिक नेता आदि तो थे ही, इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक अनजाने व्यक्ति भी वहाँ खड़े रो रहे थे जिनका न साहित्य से सम्बन्ध था, न संस्कृति से, न राजनीति से—जो केवल मानव होने के नाते नवीन जी के आत्मीय बन गये थे। फूलों से लदा नवीन जी का अस्थि-शेष शरीर गाड़ी के डिब्बे में रख दिया गया। समवेत जन एक-एक कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने लगे और जब गाड़ी के चलने में थोड़ी देर रह गयी तो हम लोगों ने सहारा देकर गुप्तजी को डिब्बे में चढ़ाया। वे दो क्षण मौन हुये—कदाचित् उसी समय उनकी कवि-चेतना में निम्नलिखित पंक्तियों का मूल-भाव स्फुरित हो गया था—

कहाँ आज वह बंधु हमारा,
जिसके मानस की रस-धारा,
आप्लावित करती थी हमको।
उससे श्रद्धांजलि की आशा
रखती थी मेरी अभिलाषा
अनहोनी ही प्रिय है यम को !

हम लोगों ने भी अन्तिम बार उनकी पद-वंदना की और कुछ ही देर में गाड़ी पटरी पर रँग उठी। सारा प्लेटफार्म नवीन जी के जय-जयकार से गूँज उठा।

नवीन जी आज कीर्ति-शेष रह गये हैं। समय ने उनके विरह का घाव भी बहुत कुछ पूर दिया है। अभी कुछ दिन पहले उनके विषय में चर्चा हो रही थी। एक भावुक मित्र ने उनके जीवन-काल में ही कहीं लिखा था कि वे महा-

मानव थे । इस पर एक तथ्य-दर्शी आलोचक ने सव्यंग्य प्रश्न किया कि क्या मानव-चरित्र के एक भी दोष से वे मुक्त थे ? आज मैं सोचता हूँ कि वस्तु-सत्य क्या है और मेरा हृदय ही नहीं बुद्धि भी यह उत्तर देती है कि इन दोषों के अभाव में तो वे मानव ही न रहते । चिन्मय आत्मा के सम्पूर्ण गुणों के साथ मृण्मय प्रकृति के समस्त दोषों के समवाय का नाम है मानव—और यदि महामानव का अस्तित्व इस संसार में है तो वह सर्वांग मानव का बृहत्तर या महत्तर रूप ही हो सकता है, दोष-मुक्त अपूर्ण मानव का नहीं । मैं महामानव का इससे अधिक शुद्ध लक्षण नहीं कर सकता—और ऐसे व्यक्ति मैंने अपने जीवन में कम ही देखे हैं, जिन पर यह लक्षण नवीन जी की अपेक्षा अधिक सटीक बैठता हो !

रेडियो में पंत जी का आगमन

सन् ४९-५० की बात है। उन दिनों हिन्दी में भी आकाशवाणी का नाम आल इंडिया रेडियो ही था—अधिकारियों का तर्क था कि आल इंडिया रेडियो व्यक्तिवाचक संज्ञा है और उसका अनुवाद उसी तरह नहीं किया जा सकता जिस तरह किसी व्यक्ति के नाम का। भारत को स्वतंत्र हुए दो वर्ष हो चुके थे किन्तु हिन्दी को अभी तक उचित स्थान प्राप्त नहीं हो सका था—अतः हिन्दी लेखकों की ओर से रेडियो-विरोधी-आंदोलन चल रहा था; तभी हिन्दी के परिचित कवि श्री बालकृष्ण राव की उपमहानिदेशक के रूप में नियुक्ति हुई। श्री राव का मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं था—मैंने उनकी कुछ कविताएँ पढ़ी थीं और उन्होंने कदाचित् मेरे कुछ लेख देखे-पढ़े थे। रेडियो में भी मेरा उनका सीधा सम्पर्क नहीं था, क्योंकि हिन्दी का कार्य औपचारिक रूप से पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी संभालते थे—और वे भी शीघ्र ही अवकाश ग्रहण करने वाले थे। एक दिन सहमा अरारात्न में राव साहब ने टेलीफोन कर मुझे बुलाया और कहा कि आपसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गोपनीय विषय पर परामर्श करना है। सैक्रेटरी चाहते हैं कि हिन्दी-कार्यक्रम का संचालन करने के लिए किसी चोटी के कलाकार को लाया जाय—आप कुछ नाम बताइए। मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था, फिर भी दो-चार मिनट सोचने के बाद मैंने उत्तर दिया—“हिन्दी के कलाकारों में आदर्श नाम तो पंत जी का है, किन्तु उनको राजी करना सरल नहीं होगा—हो सकता है संभव ही न हो—और दूसरा नाम हो सकता है...”।

“दूसरे नाम की आवश्यकता नहीं है; पंत जी से ही श्रीगणेश किया जाय। आप कल ही इलाहाबाद चले जाइए और देखिए इस सम्पूर्ण प्रसंग को अपने तक ही रखिए। यदि इस प्रयत्न में सफलता मिल जाती है तो यह हिन्दी और रेडियो दोनों की बड़ी सेवा होगी।”

अगले दिन रात की गाड़ी से चलकर मैं तीसरे दिन इलाहाबाद पहुँचा। पंत जी उन दिनों टैगोर टाउन में रहते थे—उनकी ममेरी बहिन कल्याणीया

शांता जोशी भी साथ में थीं। मैं कई वर्ष बाद पंत जी से मिला था : वही सौम्य-स्निग्ध दृष्टि—कुछ चकित-सी ; परिचित वेश-भूषा से युक्त रमणीय कवि-रूप ; ऐसा लगता था जैसे कंशोर्य यौवन के द्वार से ही लौटकर प्रौढ़ि में प्रवेश कर चुका हो ; प्रगतिवाद के रक्ष प्रभाव से कवि का अन्तर्बाह्य मुक्त हो चुका था।

सामान्य कुशल-प्रश्नादि के बाद पंत जी बोले—इलाहाबाद कैसे आये हैं ? मैंने कहा—आपके ही पास आया हूँ और ऐसे काम से आया हूँ जिसका अनुमान आप लगा नहीं सकते। इतना कहकर मैं थोड़ा झिझका—मैं शायद पंत जी के जीवन में पहली बार नौकरी का प्रस्ताव करने जा रहा था। उसके औचित्य पर मुझे संदेह होने लगा, मानो मैं कोई अभद्रता कर रहा हूँ। उधर, पंत जी की सहज-चकित दृष्टि में कुतूहल का भाव सहसा स्पष्ट हो आया। मैंने कहा—पंत जी, मुझे आल इंडिया रेडियो के डिप्टी डायरेक्टर जनरल श्री बालकृष्ण राव ने भेजा है। रेडियो पर हिन्दी के कार्यक्रम का संगठन और विकास करने के लिए उनकी और हम सबकी इच्छा है कि आप इस दायित्व को स्वीकार कर लें। मुझे पूर्ण आशंका थी कि पंत जी तुरन्त ही इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देंगे—और मैं इसके लिए तैयार था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ—पंत जी इस प्रसंग में कुछ प्रश्न करने लगे और मैं एक प्रकार के सुखद आश्चर्य के साथ उत्साहपूर्वक उनका उत्तर देने लगा। फिर बोले—अच्छा मुझे आज रात को सोचने का समय दीजिए, मैं कल आपको उत्तर दूँगा। कल आप जल्दी आ जाइए—चाय यहीं पीजिए।

दूसरे दिन मैं लगभग ६ बजे पंत जी के बँगले पर पहुँच गया। पहुँचने के कुछ समय बाद ही वे बोले—ठीक है, मैं इस कार्य को कर लूँगा। मेरी पहली प्रतिक्रिया स्वभावतः कृतकार्यता की ही थी—अन्य तर्क-वितर्कों के लिए उत्तेजना की उस स्थिति में विशेष अवकाश ही नहीं था। पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार मैं रेडियो स्टेशन से श्री राव को टेलीफोन करने चल दिया। यद्यपि इस समय भी प्रसन्नता का भाव ही सर्वोपरि था, फिर भी मेरे चिन्ताशील मन में कुछ संदेह उठने लगे—क्या रेडियो के अधिकारी पंत जी का उचित गौरव समझ सकेंगे ! वहाँ की जड़ औपचारिकता से कहीं पंत जी के अतिशय संस्कृत मन को आघात न पहुँचे ? सामान्यतः रेडियो के अधिकारी शिष्टाचार में त्रुटि नहीं करते थे—मेरा अपना अनुभव बुरा नहीं था। फिर भी मैं अपने मानकों का उपयोग पंत जी जैसे अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति के लिए कैसे कर सकता था ? और क्या पंत जी रेडियो के उसभे हुए काम को सँभाल सकेंगे—उन्होंने

तो कभी इस प्रकार का काम नहीं किया ? इन्हीं विचारों में निमग्न मैं रेडियो-स्टेशन आ पहुँचा । उन दिनों श्री मूर्ति वहाँ के स्टेशन-डायरेक्टर थे—मैं और वे एक-दूसरे को केवल नाम से जानते थे—साक्षात्कार के बाद ही मैंने उनसे कहा कि मैं एक गोपनीय कार्य से इलाहाबाद आया हूँ और श्री सी० बी० राव को तुरन्त ही ट्रंक कॉल करना चाहता हूँ । कॉल बुक की गई । पर मेरे सामने एक नई उलझन आ गई—श्री मूर्ति के सामने मैं राव साहब से गोपनीय वार्ता कैसे कर सकूँगा : उनके ही कमरे में उनसे यह कहना कि आप थोड़ी देर लिए बाहर चले जाइए बड़ी हिमाकृत होती । साथ ही उनको विश्वास में लेने का मुझे अधिकार प्राप्त नहीं था । और, न मैं स्वयं ही इस विषय में आश्वस्त था कि उनका हिन्दी के विषय में क्या रुख है । इतने ही में कॉल मिल गई । खैर मैंने बड़ी सावधानी के साथ सर्वनामों का प्रयोग करते हुए श्री राव को स्थिति से अवगत करा दिया । स्वभावतः वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—बड़ा काम किया आपने । वहाँ का काम तो हो गया किन्तु इधर मेरे मन में ग्लानि हो रही थी क्योंकि श्री मूर्ति जैसे सदाशय अधिकारी के प्रति प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास व्यक्त कर मैंने निश्चय ही अभद्रता की थी । फिर भी उस समय मैंने उनसे क्षमा-याचना नहीं की क्योंकि उससे तो स्थिति और भी बिगड़ जाती—थोड़ी देर इधर-उधर की बातें कर लौट आया ।

दिल्ली आकर मैंने अपनी वार्ता का पूरा विवरण बालकृष्ण जी को दिया—तब तक वे सैक्रेटरी श्री पी० सी० चौधरी से विचार-विनिमय कर चुके थे । श्री चौधरी के मन में भारतीय संस्कृति और संस्कृत साहित्य के प्रति असीम अनुराग है—हिन्दी के प्रति एक प्रकार के ममत्व की भावना उन्हें अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधुरानी से संस्कार रूप में प्राप्त है । तात्कालिक परिस्थिति के कारण उनकी अपनी परिसीमाएँ थीं, परन्तु वे निश्चय ही हिन्दी के प्रचार के लिए प्रयत्नशील थे । पंत जी की स्वीकृति मिलने पर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए । प्रसन्नता के इस वातावरण में न जाने क्यों मेरे मन में अब भी यह शंका हो उठती थी कि कहीं पंतजी मना न कर दें । अंततः वही हुआ—दूसरे दिन ही मेरे पास उनका पत्र आया जिसमें लिखा था कि उन्होंने पं० अमरनाथ झा से परामर्श किया था और झा साहब ने उन्हें सरकारी नौकरी की सलाह नहीं दी—उनकी अपनी भी आरम्भ से ही अनिच्छा-सी थी । मैं तुरन्त ही राव साहब के पास वह पत्र लेकर पहुँचा । स्वभावतः ही वे खिन्न हुए और तत्काल सैक्रेटरी महोदय से टेलीफोन पर बात करने लगे । उनके वार्तालाप के कुछ अंश मैं स्पष्टतः सुन सकता था—सैक्रेटरी के मन में एक

प्रकार की निराशा और खीझ का भाव था : खीझ में उनके मुँह से निकल गया—स्ट्रेन्ज मैन ! ही रिफ़्यूज़ेज बिकाँज़ पंडित भा सेज 'नो' । यद्यपि उनकी खीझ अस्वाभाविक नहीं थी फिर भी यह वाक्य मुझे अच्छा नहीं लगा और मैं सोचने लगा कि पंत जी का निर्णय ठीक ही है । परन्तु राव साहब हताश नहीं हुए । उन्होंने तभी श्री मूर्ति के माध्यम से पंतजी के साथ सम्पर्क स्थापित किया, उनकी काफ़ी शंकाओं का समाधान तो फ़ोन पर ही कर दिया और आगे विचार-विनिमय के लिए पंतजी को दिल्ली बुला लिया । पंतजी दो-तीन दिन बाद सवेरे दिल्ली पहुँचे । मैं रेडियो की ओर से उनको लिवाने स्टेशन गया—कई बार गाड़ी इधर से उधर देख ली पर पंतजी नहीं मिले और मैंने लौटकर श्री राव को उनके न आने की सूचना दे दी । पर कुछ ही देर में उनका टेलीफ़ोन आया कि पंतजी आ गये हैं और सुश्री निर्मला जोशी के यहाँ ठहरे हैं । मुझे हैरानी हुई—शाम को जब श्री राव के यहाँ हम मिले तो पता लगा कि गाड़ी और गाड़ी के बाहर भीड़ अधिक थी और धूल भी कुछ ज्यादा थी, इसलिए पंत जी १५-२० मिनट अपना डिब्बा बन्द किये गाड़ी में ही बैठे रहे । उस संभाषण में पंतजी की सभी शंकाओं का समाधान हो गया—वे प्रयाग ही रहेंगे, दिल्ली वर्ष में ४-६ बार आ जाया करेंगे, दिन में घर पर ही रहकर कार्य की देखभाल कर लेंगे—केवल अपराह्न में रेडियो-स्टेशन जाना पर्याप्त होगा । उनके साथ कार्य करने के लिए एक सहायक की भी नियुक्ति हो जाएगी—रचना-कार्य में कोई बाधा नहीं होगी अर्थात् अनुमति आदि का प्रतिबन्ध नहीं होगा, आदि-आदि । एकाध बार हल्के स्वर में वेतन का भी प्रश्न उठाया गया, किन्तु पंतजी ने उसमें कोई रुचि नहीं दिखाई ।

दूसरे दिन अपराह्न में महानिदेशक श्री लक्ष्मणन से भेंट की व्यवस्था की गई । श्री राव पहले से ही वहीं थे, मैं पंत जी को लेकर तीसरी मंजिल पर पहुँचा । कमरे में घुसते ही श्री लक्ष्मणन ने उठकर फ़ौजी तपाक से पंत जी से हाथ मिलाया । यह भेंट अपने आप में एक रोचक घटना थी । पंत जी ने शायद लक्ष्मणन जैसे आदमी को और श्री लक्ष्मणन ने पंत जी जैसे आदमी को जीवन में पहली बार देखा था—आकृति-प्रकृति का जितना भी वैपरीत्य संभव था, वह यहाँ प्रत्यक्ष हो उठा था । श्री लक्ष्मणन ने अपनी सहज नाटकीय शैली में पंत जी से बड़े स्नेह और सौजन्य के साथ औपचारिक बातचीत की । कुछ देर

१. नाटकीय शब्द का प्रयोग मैं बुरे अर्थ में नहीं कर रहा किन्तु उनकी शैली के लिए मेरे पास कोई दूसरा हिन्दी शब्द नहीं है, अंग्रेज़ी का 'लाउड' शब्द कुछ अधिक निकट होगा : खुदा बख़्शो बहुत-सी खूबियाँ थीं मरने वाले में ।

बाद मैं पंत जी के साथ उठकर आने लगा—मैं आगे दरवाजा खोलकर बाहर पहुँच चुका था, पंत जी मेरे पीछे थे। इतने में श्री लक्ष्मणन की फ़ीजी हँसी के साथ यह वाक्य हमारे कानों में पड़ा—‘ही इज ए चाइल्ड’।

बाहर निकल कर मैंने पंत जी से पूछा। यहाँ का वातावरण आपको कैसा लगा—डी० जी० कैसे लगे? पंत जी बोले—जबर्दस्त आदमी है। जब मुझसे हाथ मिलाया तो मुझे लगा कि बस अब मेरा हाथ वापस नहीं आयेगा। + + + लेकिन इन्होंने यह क्यों कहा ‘ही इज ए चाइल्ड’। मैंने उत्तर दिया कि वह तो आपकी प्रशंसा में कहा था—आपके निश्छल और सौम्य व्यक्तित्व की सराहना कर रहे थे। और, वस्तुतः बात भी यही थी—फिर भी न जाने पंत जी के मन में यह प्रश्न क्यों उठा। शाम हो आयी थी और मैं कार में पंत जी को लेकर डा० जोशी की कोठी के लिए रवाना हो गया। आते समय मैं रास्ता भूल चुका था, इसलिए वापसी में मार्ग-दर्शन का दायित्व पंतजी ने अपने ऊपर ले लिया। मुझे सामान्यतः इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए था—परन्तु अपने मार्ग-ज्ञान के प्रति अतिशय अविश्वास और पंतजी के आश्वस्त स्वर के कारण मैं उनके निर्देशन पर चल दिया। परिणाम जो होना चाहिए था वही हुआ—ईदगाह के ढाल और रोहतक रोड के बीच मैं भटक गया। पंत जी हर बार विश्वास के साथ कहते—नहीं-नहीं अबकी बार ठीक है, यही रास्ता है, आप चलिए भी। इसी आवर्तन में अँधेरा हो आया और शायद बैटरी का कनेक्शन ढीला हो जाने से मेरी गाड़ी ढाल पर रुक गई। बड़ी परेशानी हुई—मुझे बार-बार भुँभुलाहट होती कि मैंने पंत जी की बात क्यों मानी; बिना मशीन का थोड़ा-सा काम जाने मैं गाड़ी चलाने की बेवकूफी क्यों करता हूँ! कई बार मैंने कुछ राहगीरों की सहायता से गाड़ी को ढाल पर ले जाकर स्टार्ट करने की कोशिश की। पंत जी को कष्ट हा रहा था, इसकी मुझे चिन्ता थी—वे बेचारे सहायता भी क्या करते : मैंने उनसे कहा कि आप एक ओर खड़े हो जाइए मैं किसी ड्राइवर की सहायता से गाड़ी अभी चालू कर लूँगा और मैं इधर-उधर किसी जानकार आदमी की खोज करने लगा। इतने ही में पंत जी ने आवाज़ दी—डाक्टर नगेन्द्र, आप यहाँ आइए, मैं बताऊँ। मैंने समझा पंतजी ने गाड़ियों का काफ़ी प्रयोग किया है, सम्भवतः मशीन के बारे में थोड़ा-बहुत जानते हों। मैं आशा के साथ उनकी ओर बढ़ा तो कहने लगे—“देखिए आप इस गाड़ी को बेच दीजिए और नई ले लीजिए। फिर कभी गड़बड़ नहीं होगी।” मैं काफ़ी परेशान हो चुका था, इस नेक सलाह को सुनकर खीझ उठा। मुझे लगा कि पंत जी को बेवक़्त यह क्या मजाक सूझा। पर वास्तव में पंत जी के चेहरे पर हँसी का कोई निशान ही नहीं

था। मुझे ही हँसी आ गई और मैं मन ही मन कहने लगा—‘ही इज ए चाइल्ड’।

+

+

+

रेडियो में पंत जी ने अपने जीवन के कतिपय वर्षों में इस मधुर सत्य का उत्साहपूर्वक निषेध किया। उनके व्यक्तित्व की इसी ‘अबोध पावनता’ के कारण अनेक मित्र अत्यन्त सद्भावपूर्वक यह शंका करते थे कि यह निर्वाचन ठीक नहीं हुआ। किन्तु विगत दशक में भारतीय प्रसारण का इतिहास साक्षी है कि यह शंका सर्वथा निर्मूल थी : पंत जी के ज्योति-स्पर्श से रेडियो का वायु-मण्डल एक स्निग्ध-स्वर्णिम प्रकाश से दीपित हो उठा। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम के साथ आकाशवाणी के कार्यक्रम का संस्कार-परिष्कार किया और उसे भारतीय संस्कृति का उपयुक्त माध्यम बनाने में अपूर्व योगदान किया।

गिरिजाकुमार माथुर

सन् १९३६ में कामायनी का प्रकाशन हुआ—और '३७ में प्रसाद जी का स्वर्गवास । लगभग इसी समय से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी । उन्हीं दिनों पंत जी के सम्पादन में 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ जो नवीन काव्य-चेतना की अभिव्यक्ति का कदाचित् पहला माध्यम बना । 'रूपाभ' में भावप्रवण छायावादी रचनाएँ नहीं छपती थीं—पंत जी के नाम से आकृष्ट होकर छायावाद से प्रभावित जो कवि अपनी रचनाएँ भेजते थे, उनसे अत्यंत शिष्ट भाषा में—पंत जी और नरेन्द्र की अपनी मीठी भाषा में क्षमा माँग ली जाती थी । 'रूपाभ' शब्द केवल नाम ही नहीं था—नवीन चेतना का प्रतीक भी था । उसमें यह व्यंजना स्पष्ट थी कि छायावादी 'आभा' नवीन युग में सौन्दर्य-बोध को व्यक्त करने में असमर्थ हो चुकी है—नया युग केवल 'आभा' नहीं उसके साथ 'रूप' की भी माँग कर रहा है । अतः छायावाद के अमूर्त सौन्दर्य के स्थान पर मूर्त सौन्दर्य काव्य का विषय बना—भाव के तारल्य के स्थान पर वस्तु की दृढ़ रूपरेखा सौन्दर्य का प्रतिमान बनी । अंग्रेजी काव्य में इससे काफ़ी पहले इसी प्रकार की घटना हो चुकी थी—वहाँ भी तीन-चार आत्मविश्वासी बिम्बवादी कवियों ने निजी तौर पर संगठन कर रोमानी प्रवृत्ति का अंत करने का निश्चय किया था और अपने निश्चय को मूर्तित करने के लिए निम्नलिखित उद्देश्य-पत्र प्रकाशित किया था :

(१) जन-साधारण की भाषा का प्रयोग करना—किन्तु सदैव एकांत उपयुक्त (एज्जेक्ट) शब्द का ही प्रयोग करना; न तो उपयुक्तप्राय शब्द का प्रयोग और न केवल अलंकृत शब्द का ।

(२) नई मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के लिए नई लयों की सृष्टि करना—और पुरानी लयों का अनुकरण न करना क्योंकि वे तो पुरानी मनोदशाओं की प्रतिध्वनि-मात्र हैं । हमारा यह आग्रह नहीं है कि मुक्त छंद ही काव्य-रचना का एक मात्र माध्यम है । हम तो इसके लिए उसी प्रकार संघर्ष करते हैं जिस

प्रकार स्वातंत्र्य सिद्धान्त के लिए । हमारा यह विश्वास है कि कवि का वैशिष्ट्य रूढ़ छंदों की अपेक्षा मुक्त छंद में अधिक सफलता से अभिव्यक्त हो सकता है । कविता में नई लय का अर्थ है नया भाव ।

(३) विषय-निर्वाचन में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करना । वायुयान और मोटरकार आदि के विषय में फूहड़ रचनाएँ सुन्दर कला का निदर्शन नहीं मानी जा सकतीं और न अतीत-विषयक सुन्दर रचनाएँ अनिवार्यतः कुकवित्व की ही परिचायक होती हैं । आधुनिक जीवन के कलात्मक महत्त्व में हमारी प्रबल आस्था है, किन्तु हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि १९११ में निर्मित वायुयान से अधिक निष्प्रभाव और पुराने ढंग की चीज दूसरी नहीं है ।

(४) बिम्ब प्रस्तुत करना (इसीलिए बिम्बवादी नामकरण हुआ है) । हम चित्रकला के किसी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि नहीं हैं, किन्तु हमारा यह विश्वास है कि कविता में विशेष पदार्थों का यथावत् प्रत्यंकन होना चाहिए न कि अस्पष्ट सामान्य धारणाओं का, चाहे वे कितनी ही भव्य और मधुर क्यों न हों । इसी कारण हम 'भूमावादी' (कास्मिक) कवि का विरोध करते हैं क्योंकि हमें लगता है कि वह अपनी कला की वास्तविक कठिनाइयों से बचने का प्रयास करता है ।

(५) ऐसी कविता की रचना करना जिसकी रूपरेखा दृढ़-कठोर और स्पष्ट हो—कहीं भी आविल और अनिश्चित न हो ।

(६) अंत में, हममें से अधिकांश का यह मत है कि एकाग्रता कविता का प्राण है ।

—एक वाक्य में भावना की तरलता के स्थान पर नवीन चेतना वस्तु की दृढ़-स्पष्ट रूपरेखा के लिए आग्रह कर रही थी ।

छायावाद के विरोध में हिन्दी में कवियों के तीन वर्ग उभर कर सामने आए : १—बच्चन और उनके समसामयिक गीतकार : जिन्होंने छायावाद के व्यक्तित्व को तो आग्रह के साथ ग्रहण किया किन्तु उसके रहस्यमय वायवीय और अमूर्त रूप का निषेध कर वास्तविक जीवन की सुख-दुःखमयी अनुभूतियों को प्रत्यक्षतः काव्य का विषय बनाया और उधर काव्य-शिल्प में प्रतीक तथा लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शब्दावली के आवरण हटा जीवन के परिचित बिम्बों तथा सीधी भाषा का प्रयोग आरम्भ किया । २—सामाजिक चेतना के प्रति आग्रहशील कवि : जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में अपना आदर्श प्राप्त कर छायावाद की धैर्यवस्तु चेतना को उसके मूर्त-अमूर्त, प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी रूपों में अनाहत कर भौतिक-जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे—और उसी के अनुरूप जन-भाषा तथा जन-जीवन के सहज बिम्बों का

ग्रहण करना चाहते थे—पारिभाषिक शब्दावली में ये कवि प्रगतिवादी कहलाये; ३—प्रयोगवादी कवि जो छायावाद की वंशति कला को हृदय के स्थान पर बुद्धि के धरातल पर स्वीकार कर अधुनिक जीवन के अनुरूप एक नवीन सौख्य-बोध का दावा कर रहे थे और उसको अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए आधुनिक जीवन के नवीन उपकरणों को सभी प्रकार की रंगीन भावनाओं के संसर्ग से मुक्तकर मूर्त बिम्बरूप में अंकित करने के लिए व्यग्र थे : ये कवि आगे चलकर अपनी काव्य-प्रवृत्ति को प्रयोगवाद के स्थान पर 'नई कविता' कहने का आग्रह करने लगे ।

आरम्भ में इन तीनों प्रवृत्तियों का पार्थक्य स्पष्ट नहीं था—केवल इतना ही आभास मिलता था कि छायावाद की अमूर्त वायवीय काव्य-चेतना अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी और उसके स्थान पर जीवन की मूर्त और मांसल अभिव्यक्ति के लिए एक नयी काव्य-चेतना का उदय हो रहा था । गिरिजाकुमार माथुर की कवि-प्रतिभा का उदय इसी वातावरण में हुआ । अतः उनकी कविता में यह सभी तत्त्व सहज ही विद्यमान हैं । वे हिन्दी के अत्यंत मधुर गीतकार हैं । मंजीर के गीतों में उन्होंने किशोर-हृदय की रंगीन भाव-कल्पनाओं को स्वर प्रदान किया है । इन गीतों में छायावाद की रंगीनी तो है किन्तु इनकी भाव-वस्तु वायवीय नहीं है इनका आलंबन किशोरभाव की प्रधानता के कारण कल्पनागम्य भले ही हो किन्तु कल्पना-जात नहीं है । वह दूरस्थित अवश्य है किन्तु यह दूरी उसके आकर्षण की वृद्धि करने के लिए ही है ; उसको रहस्यमय या अगम्य बनाने के लिए नहीं । इस प्रकार इन गीतों में छायावाद की आभा को इस नये कवि ने रूप प्रदान किया है । उस समय और भी कवि छायावाद की आभा को मांसल रूप देने का सफल-असफल प्रयत्न कर रहे थे, किन्तु कहीं तो आभा की तरलता मूर्त बिम्बों की पकड़ में नहीं आती थी और कहीं रूप ही अधिक मांसल बन जाता था । गिरिजाकुमार के गीतों में रूप और आभा का समन्वय पहली बार मिला । 'मंजीर' के गीत 'नाश और निर्माण' के गीत और कुछ परवर्ती गीतिमयी रचनाएँ भी हमारी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि करेंगी ।

कौन थकान हरे जीवन की ?

धीत गया संगीत प्यार का,

रूठ गई कविता भी मन की ।

वंशी में अब नौद भरी है,

स्वर पर पीत साँझ उतरी है ।

बुझती जाती गूँज अखीरी
 इस उदास वन-पथ के ऊपर
 पतझर की छाया गहरी है,
 अब सपनों में शेष रह गई
 सुधियाँ उस चंदन के वन की।

रात हुई पंछी घर आए,
 पथ के सारे स्वर सकुचाये,
 म्लान विया-बत्ती की बेला
 थके प्रवासी की आँखों में
 आँसू आ-आकर कुम्हलाये,
 कहीं बहुत ही दूर उनींदी
 भ्रांति बज रही है पूजन की।
 कौन थकान हरे जीवन की ?

इस गीत का पहला पद रोमानी आभा से मंडित है। मन की कविता का रुठना, वंशी में नींद का भर जाना, स्वर पर पीली सांभ उतरना और अन्तिम गूँज का क्रमशः तिरोभाव, उधर उदास वन-पथ के ऊपर पतझर की गहरी छाया का घिरना और अन्त में :

अब सपनों में शेष रह गयीं
 सुधियाँ उस चंदन के वन की

ये सभी रोमानी आभा के रमणीय उपकरण हैं। यदि गीत के शेष भाग में कवि ऐसे ही तरल बिम्बों का प्रयोग करता, जिनमें अनुभूति की निकटता कम और कल्पना की दूरी अधिक रहती तो यह शुद्ध छायावादी गीत होता ! किन्तु दूसरे पद में जो चित्र अंकित किया गया है वह इस छायावादी दूरी को कम कर देता है। रात होने पर पंछियों के घर लौटने में, पथ के कोलाहल की परि-अन्ति में, थके प्रवासी की आँखों में आँसुओं के भरने और सूख जाने में, दूर मंदिर में गूँजने वाले भारती के स्वरों में अनुभूति का सामीप्य है जो प्रवासी के मन की उदासी को और भी भारी कर देता है। इस प्रकार छाया को आकार और आभा को रूप मिल गया है।

गिरिजाकुमार ने इन गीतों के अतिरिक्त अनेक रसमय शृंगार-कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं को आधारभूत अनुभूतियाँ अत्यंत सूक्ष्म और परिष्कृत होते हुए भी मूर्त और मांसल हैं। उनमें एक ओर छायावाद की अतीन्द्रिय शृंगार-भावना का अभाव है और दूसरी ओर प्रगतिवाद की अनगढ़ स्थूलता भी नहीं

है। रूप और रस के मांसल स्पर्श परिष्कृत कल्पना के संसर्ग से अत्यंत रमणीय बन गये हैं। यह शृंगार न तो भूखे तन और भूखे मन का आहार है और न किसी अदृश्य आलंबन के साथ कल्पना-विहार है—कवि ने जीवन की मधुर भावना को बड़े ही हल्के हाथों से, किन्तु पूरी गहराई के साथ, बिम्बित करने का सफल प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए कवि की एक प्रसिद्ध कविता है 'छूड़ी का टुकड़ा' :

आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या में
जब मैं यों ही मंसे कपड़े देख रहा था,
किसी काम में जी बहलाने,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा,
गिरा रेशमी छूड़ी का
छोटा-सा टुकड़ा,
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं,
रंग-भरी उस मिलन रात में।
मैं बंसा का बंसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें।
बूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली,
कसे हुये बन्धन में छूड़ी का भर जाना,
निकल गई सपने जैसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा
यही छोटा-सा टुकड़ा।

इस कविता का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी प्रेरक अनुभूति अतीन्द्रिय या वायवी न होकर मांसल है। उसकी सृष्टि कल्पना के द्वारा नहीं की गई है अर्थात् उसमें अनुभूति की कल्पना नहीं है वरन् मधुर अनुभूति के एक लघु क्षण के ऊपर बड़ी बारीकी के साथ कल्पना की रंजित तस्वीरें अंकित की गई हैं। जिस तरह कोई शिल्पी काँच के छोटे टुकड़े पर या रत्न पर पूरा चित्र अंकित कर देता है, इसी तरह :

बूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें।

इस प्रकार गिरिजाकुमार छायावादोत्तर गीतकारों में अपने रुचि-परिष्कार तथा कल्पना की समृद्धि के कारण विशेष स्थान के अधिकारी बने और उन्होंने अर्थ के संगीत के साथ शब्द के संगीत का अपूर्व सामंजस्य कर हिन्दी गीत-काव्य को निश्चय ही एक नवीन समृद्धि प्रदान की।

छायावाद के बाद हिन्दी काव्य में जिस नवीन सामाजिक चेतना का उदय हुआ उसका भी प्रभाव गिरिजाकुमार की कविता पर स्पष्ट है। किन्तु उनकी चेतना यहाँ भी संयत है। उन्होंने सामाजिक वंशम्य की पीड़ा का अनुभव किया है और उसे अपने काव्य में स्वच्छ रूप में व्यक्त किया है। इन कविताओं में मध्यवर्ग की अनुभूतियों को ही आधार बनाया गया है, इसलिए इनमें एक ओर स्वानुभूति की सचाई है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति में असंयत आक्रोश का सर्वथा अभाव भी है। मध्यवर्ग की कुंठाओं की कटुता इस प्रकार की रचनाओं में आ सकती थी, परन्तु कवि के अपने स्वभाव की मिठास ने यह दोष भी नहीं आने दिया। इस कथन की सत्यता का अनुभव करने के लिए 'मशीन का पुर्जा' शीर्षक कविता पढ़िए।

जैसा कि हमने अभी संकेत किया—प्रालोच्य कवि की प्रगति-चेतना मध्यवर्ग की ही प्रगति-चेतना है। इसलिए उग्र प्रगतिवादी आलोचक उसका उचित मूल्यांकन करने में कदाचित् असमर्थ रहे हैं। किन्तु यदि वर्ग-संघर्ष की आवना से मुक्त होकर विचार करें तो प्रगति-चेतना वस्तुतः एक प्रकार की नैतिक चेतना है जो वर्गों में विभाजित नहीं हो सकती। वह जीवन के स्वस्थ और विकासशील तत्त्वों के प्रति संवेदनशील होती है और जीवन-विकास में बाधक रूपा मनोवृत्तियों—निराशाजन्य कुंठा-विषाद आदि—का विरोध करती है। जीवन का विकास वर्गबद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वर्गों में बाँटकर जीवन को देखना तो स्वयं ही रूपा दृष्टि का परिचायक है। इसीलिए व्यापक जीवन-दर्शन का त्याग कर अपनी रूढ़ता में प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक जब प्रगतिवादी बनने का आग्रह करने लगा तो न उसने कला और साहित्य का ही हित किया और न वह स्वस्थ प्रगति-चेतना का ही विकास कर सका। हिन्दी कविता में नवीन सामाजिक चेतना का समावेश करने में गिरिजाकुमार का योगदान कम नहीं है; किन्तु उन्होंने इसे व्यापक नैतिक धरातल पर ही ग्रहण किया, रूढ़ सिद्धान्तवाद के रूप में नहीं। उनके प्रायः सभी संग्रहों से इस प्रकार की अनेक कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं।

नये युग की तीसरी प्रवृत्ति है प्रयोगवाद, जिसका नाम बाद में चलकर 'नई कविता' पड़ गया। इस नई प्रवृत्ति का विकास करने में गिरिजाकुमार

का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने जिस नवीन साहित्य-दृष्टि का उन्मेष किया वह केवल अध्ययन से प्राप्त नहीं थी। इस क्षेत्र में भी उनके रवि-संस्कार सहायक हुए और उनकी कविता फूहड़ और अनगढ़ तत्वों से मुक्त रही। काव्यवस्तु के अन्तर्गत उन्होंने नवीन विषयों का चयन कर आधुनिक जीवन की कलात्मक संभावनाओं का बड़े संयम के साथ उपयोग किया। विज्ञान के नये आविष्कार और उनकी संभावनाएँ इस नये कवि की काव्य-चेतना में ढलने लगीं—अणुयुग के वैज्ञानिक चमत्कारों को, अन्तरिक्ष-विजय की नयी संभावनाओं को और उनके प्रकाश में मानवता के भविष्य की कल्पनाओं को साकार करने के लिए कवि ने 'पृथ्वी-कल्प' के रूप में अत्यन्त साहसिक प्रयास किया है। हमारी धारणा है कि विज्ञान के नये उपकरणों को काव्य-सामग्री के रूप में प्रयुक्त करने का यह अपने ढंग का पहला प्रयास है। स्पष्ट है कि ये नये बिम्ब सर्वत्र पूरे नहीं उतर सके हैं और उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में भी हमें कठिनाई होती है, इसलिए ये कल्पना और विचार को अधिक उत्तेजित करते हैं—मन के कोमल तारों को नहीं। फिर भी, हमारा अनुमान है कि नये कवि यदि अणुयुग के नवीन उपकरणों का प्रयोग करेंगे तो उन्हें बहुत कुछ ऐसी ही पद्धति ग्रहण करनी होगी। विज्ञान के महान् चमत्कारों के अतिरिक्त आज के जीवन के ऐसे सामान्य उपकरण भी गिरिजाकुमार की कविता में प्रयुक्त हुए हैं जो नित्य प्रति के व्यवहार में हमारे अत्यधिक निकट होने पर भी अभी तक काव्य-परम्परा के अंग नहीं बन पाये। उनका यह प्रयोग आयासहीन भी है और कलापूर्ण भी। अपने समसामयिक अधिकांश कवियों की भाँति वे केवल सिद्धान्त का निर्वाह करने के लिए या पाठक को चौंकाने के लिए या बरबस अपहस्य तत्त्व का समावेश करने के लिए इन उपकरणों का प्रयोग नहीं करते। उनकी चेतना अन्य कवियों की अपेक्षा सहज काव्यमयी है—उनका सौन्दर्य-बोध पाश्चात्य विचारों से गढ़कर तैयार किया हुआ नहीं है। नये उपकरण नवजीवन की चेतना के साथ अनाविल सौन्दर्य-भावना को मूर्त्तित करने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं; नये उपकरणों को जोड़कर नयी सौन्दर्य-भावना को संघटित करने का कृत्रिम प्रयास यहाँ नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने कवि-व्यापार के अन्तर्गत एक विशिष्ट गुण का उल्लेख किया है और वह है वस्तु-वक्रता। इस वस्तु-वक्रता का आधार कवि की प्रातिभ दृष्टि होती है जो वस्तु के अनेक अंगों में से केवल सारवान् का चयन कर उन्हीं को अपनी आभा से दीपित कर देती है। असार का त्याग और सार का ग्रहण प्रतिभा का एक वरदान है जो सबके लिए सुलभ नहीं है। नई कविता में इस गुण की

परीक्षा अमायास ही हो जाती है। सच्ची कवि-प्रतिभा जहां नवीन उपकरणों में सार-प्रसार का भेद सहज ही कर लेती है, वहाँ नये युग का बरबस आह्वान करने वाले अनेक असमर्थ कवि बुरी तरह असफल होकर रह जाते हैं और उनके पास इसके अलावा कोई चारा नहीं रह जाता कि अपनी विफलता को बौद्धिक चमत्कार द्वारा सही-गलत ढंग से छिपाने का प्रयत्न करें। 'नई कविता' का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है और नये कवियों में गिरिजाकुमार का यह सौभाग्य है कि वे इससे बहुत कुछ मुक्त हैं।

शिल्प या क्रिया-कल्प इस कवि का अपना वैशिष्ट्य है। इस क्षेत्र में उसका सौन्दर्य-बोध अपने समसामयिक कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है। संगीत का सहज ज्ञान होने के कारण उसने नवीन स्वर-लय की अनेक सूक्ष्म संयोजनाएँ प्रस्तुत करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है—और इसके लिये उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। मात्रिक छंदों के आंतरिक विधान में प्रवेश कर उसने अनेक कोमल गीति-लयों का आविष्कार किया है—उधर वर्णिक छंदों के आधार पर मुक्त छन्द के अनेक सुपाठ्य रूपों का नवीन विकास किया है। हिन्दी में मुक्त छन्द के विकास का मूल आधार प्रायः 'घनाक्षरी' ही रहा है, परन्तु गिरिजाकुमार ने सबैया के लय-विधान का भी उपयोग किया है—और अनेक मात्रिक छंदों के बंधों का भी। इस कवि का पाश्चात्य छंद-विधान से भी परिचय है और नवीन संयोजनाओं की उद्भावना में इसने उसका भी यथा-स्थान पूरा लाभ उठाया है। नवीन कविता गद्य की निबिड़ता में उलझकर अपना संगीत खोती जा रही है। आज जब अज्ञेय से लेकर छोटे से छोटे कवि तक व्याप्त शब्द तथा स्वर-लय के संगीत का यह दारिद्र्य नये कवियों की क्रियाविधि पर छाया हुआ है और ये कवि कविता को संगीत से मुक्त करने का झूठा दम्भ करते हुए अपने अभाव को छिपाने का निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं—गिरिजाकुमार की कविता के शब्द-विधान और स्वर-लय-विधान में अन्त-व्याप्त संगीत उनके पृथक् वैशिष्ट्य का प्रमाण है। मेरा विश्वास है कि वर्तमान युग के छंद-लय-शिल्पियों में उनका स्थान मूर्धा पर रहेगा।

यही बात उनकी बिम्बयोजना और अभिव्यंजना के विषय में इतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है। गिरिजाकुमार के अन्तःसंस्कार छायावाद के सूक्ष्म-कोमल, शतशतरंगोज्ज्वल बिम्बों से बसे हुए थे—उनकी काव्य-चेतना का पोषण एक ओर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के काव्य-वैभव से और दूसरी ओर अंग्रेजी रोमानी कवियों की चित्रमय विभूतियों से हुआ था। कवि ने इस वैभव-विलास का पूर्ण उपयोग करते हुए उसे नवीन उपकरणों से समृद्ध

किया। छायावाद के कवियों पर विशेषतः छायावाद की अन्तिम प्रतिनिधि महादेवी पर नये कवियों का यह आरोप था कि उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और उपमान तथा प्रतीक रूढ़िप्राय होने से उनकी बिम्बयोजना में वैचित्र्य नहीं रहा। प्रारम्भ में गिरिजाकुमार के उपमान और बिम्ब, शृंगार की प्रधानता के कारण छायावाद और रीतिकाव्य के उपमानों और बिम्बों से प्रायः अभिन्न थे। उनमें नवीन स्पर्श तो थे किन्तु पुनरावृत्ति के दोष से वे मुक्त नहीं थे। धीरे-धीरे उनका क्षेत्र-विस्तार हुआ और नई सम्यता के आकर्षक उपकरणों का सुरुचि के साथ समावेश किया गया—परम्परागत उपमान और प्रतीक नये उपमान-प्रतीकों के साथ मिलकर नूतन-बिम्बों का निर्माण करने लगे :

चंदरिमा

यह भकाभक रात
चाँदनी उजली कि सूई में पिरो लो ताग
चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग
हो रही ताजी सफेदी नये चूने से
पुत रहे घर द्वार
चाँद पूरा साफ़
आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार
यह नहीं चेहरा तुम्हारा
गोल पूनम-सा
मांसल चीकने तन का
क्योंकि यह तो सामने ही दिख रहा है
रुक रहा है
यह नहीं अब तक हुआ
बरसों पुरानी बात
भूली याद

(धूप के धान, पृ० ६४)

ये बिम्ब सामान्यतः कोमल हैं—किन्तु कवि में विराट् और पुरुष बिम्बों की भी क्षमता का अभाव नहीं है; जहाँ विषय की माँग हुई है बिम्बों का आयास व्यापक और स्वरूप उदात्त हो गया है। 'पृथ्वी' काव्य में तो ऐसे चित्र हैं ही, 'राम', 'हृद्देश', 'युग सौंभ' आदि अनेक कविताओं में भी उनका समुचित प्रयोग है।

भाषा को नवीन कथ्य के अनुरूप ढालने के प्रयत्न सभी नये कवियों ने किये हैं—गिरिजाकुमार ने तद्भव तथा देशज शब्दों के प्रयोग, अंग्रेजी के अनेक सचित्र शब्दों के अन्तर्भाव, बिम्बात्मक नवीन शब्दों के निर्माण आदि के द्वारा आधुनिक काव्य-भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भाषा के इन नव्य प्रयोगों में केवल विलक्षणता की चाह नहीं है और न नया अर्थ भरने का तर्कहीन प्रयास है; अधिकांश प्रयोगों के पीछे एक कलात्मक तर्क विद्यमान है। उदाहरण के लिए चंदिरा (चंद्रिका), चंदरिमा (चन्द्रमा की आभा), भूमानी (पृथ्वी की आभा), मटीली (मिट्टी के रंग की), गरमीली (ऊष्मायुक्त) आदि शब्द-प्रयोगों को लिया जा सकता है। यह भाषा छायावाद के काव्य-संस्कारों को लेकर नवीन जीवन की अनुभूतियों को मूर्तित करने का प्रयास कर रही है: काव्य-परम्परा से उच्छिन्न होकर नवीन रूप गढ़ने के ऐसे अनर्गल प्रयत्न नहीं कर रही जिन से भाषा की अर्थव्यक्ति ही नष्ट हो जाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभी यह भाषा अपनी उचित निर्मिति को प्राप्त नहीं कर सकी, किन्तु उसमें तो समय लगेगा। हमें तो यह देखना है कि विकास की यह दिशा सही है या नहीं। सामान्य व्यवहार की भाषा को काव्य-रूप देने की प्रक्रिया अत्यन्त कठिन है—उसके लिए अर्थ-सौन्दर्य तथा नाद-सौन्दर्य की असाधारण पहचान आवश्यक होती है। हमारी धारणा है कि नये कवियों में गिरिजाकुमार में यह क्षमता औरों से अधिक है।

गिरिजाकुमार नये कवियों में अग्रणी हैं, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता—नई कविता में जो स्थायी काव्य-तत्त्व है उसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उनका स्थान अज्ञेय के समकक्ष है। अज्ञेय की प्रतिभा गुरुतर है, इसलिए उनकी कला में अधिक गरिमा और प्रौढ़ता है। किन्तु उनका कथ्य इतना व्यक्तिलिप्त है कि प्रायः असामाजिक और अनेतिक हो जाता है। नर-नारी-सम्बन्ध उनका मुख्य विषय है, जिसमें उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक खुल-खेलती है: उसकी सूक्ष्मतम विवृतियाँ—चेतन और अवचेतन विज्ञान के सहारे उन्होंने की हैं। परन्तु अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ भी उनका अहं आत्म-दान के रस से वंचित होकर पर-शोषण के प्रति इतना अधिक आतुर रहता है कि बाह्य शिष्टाचार एवं शील के आडम्बर के पीछे उसकी कुरूपता नंगी हो जाती है और थोड़ा-सा भी गहरा भाँकने पर एक प्रकार की वितृष्णा उत्पन्न करती है। गिरिजाकुमार में स्नेह अर्थात् आत्म-दान की प्रवृत्ति कहीं अधिक है—व्यक्ति-लिप्सा की वह क्रूरता उनमें नहीं है; इसलिए उनके अहं में अधिक

मार्दव है और उसी अनुपात से सहज प्रगीत-तत्त्व भी अधिक है। शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार का पलड़ा और भी भारी है—अज्ञेय की अपेक्षा इन्हें अर्थ-सौन्दर्य की पहचान अधिक है और नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से तो तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि समर्थ कवियों में अज्ञेय का यह पक्ष सबसे अधिक दुर्बल है। इस प्रकार बौद्धिक गुरुता में अज्ञेय से कहीं पीछे होने पर भी प्रगीत-तत्त्व और शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार की कविता अधिक समृद्ध है। कालान्तर में, प्रचार का कोलाहल शांत होने पर, 'नई कविता' का इतिहास जब वस्तुपरक दृष्टि से लिखा जाएगा, तो उसके निर्माताओं में गिरिजाकुमार का स्थान अन्यतम रहेगा।

नगेन्द्र-साहित्य

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा	१६००
देव और उनकी कविता	७००
रीति काव्य की भूमिका	५५०
विचार और अनुभूति	४५०
विचार और विवेचन	४५०
विचार और विश्लेषण	५५०
सियारामशरण गुप्त	५५०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य-प्रवृत्तियाँ	४००
अनुसंधान और आलोचना	४००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नई सड़क : दिल्ली

